ऋषि दयानन्द का राष्ट्रीय चिन्तन

Rishi Dayananda ka Rashtriya Chintan

पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के भाषा संकायान्तर्गत
पी–एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध–प्रबन्ध
2006

शोधार्थी

सूरज कान्त

दयानन्द वैदिक शोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़–160014

प्राक्कथन

सहस्रों वर्षों की पराधीनता और विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों से भारतवर्ष उन्नीसवीं शती तक आते–आते राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से जर्जर हो चुका था। ऐसे समय में भारतीय समाज रूपी आकाश में एक ऐसा नक्षत्र उदित हुआ जिसने अपने क्रान्तिकारी विचारों की प्रभा से तत्कालीन भारतीय समाज को आलोकित किया, यह महापुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती के नाम से ख्यात हुआ। स्वामी दयानन्द अनुपम क्रान्तिकारी विचारों के कारण अपने समय के भारत के एक प्रबल समाज सुधारक, परम वेदोद्धारक, आदर्शवादी धर्मप्रचारक, महान् शिक्षाशास्त्री एवं प्रखर राजनीतिवेत्ता के रूप में प्रख्यात हुये। सुषुप्त भारतीय जनमानस में विशुद्ध वैदिक धर्म, एक स्वस्थ समाज, भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने के लिये स्वामी जी ने एक विशाल साहित्य की रचना की और अपने विचारों के प्रचार प्रसार हेतु उन्होंने अपनी लेखनी का आधार वेदों को और आर्ष ग्रन्थों को बनाया।

महर्षि दयानन्द बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और उन्होंने अपने ग्रन्थों मे यत्र–तत्र स्वदेश भक्ति परक विचारों को भी प्रस्तुत किया। उनका जीवन और समूचा चिन्तन राष्ट्रीय भावनाओं से ओत–प्रोत था। वे राष्ट्रीय विचारों के और स्वराज्य के जन्मदाता थे। कांग्रेस की स्थापना से वर्षों पूर्व उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की और 1875 में सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थ (प्रथम संस्करण) की रचना की। अपनी स्वदेश भक्ति को उजागर करते हुए वे इस ग्रन्थ में कहते हैं– 'कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है'। इसी भांति वे यजुर्वेद 36.24 मन्त्र की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं 'हम सौ वर्ष की आयु में कभी भी पराधीन नहीं हों और स्वाधीन ही रहें। अन्य देशवासी राजा कभी भी हमारे देश का राजा न होवे।' इस प्रकार की व्याख्याओं से उनकी स्वदेश भक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। एक बार उन्होंने अपने व्याख्यान देते हुए भारतीयों को स्वदेश–प्रेम के प्रति इस प्रकार जगाया

कि 'देखो अंग्रेज अपने देश के बने हुए जूतों को ही कार्यालय और कचहरी में जाने देते हैं हमारे देश के बने हुए जूतों को नहीं'। दयानन्द के इन शब्दों से प्रतीत होता है कि वे स्वदेशी वस्तुओं का अपमान किसी भी परिस्थिति में सहन करने को तैयार नहीं थे। सन् 1930 के राष्ट्रीय जन–जागरण का उल्लेख करते हुए यूरोप के प्रसिद्ध विद्वान् रोम्याँ–रोलां ने स्वामी रामकृष्णपरमहंस की जीवनी में लिखा कि 'वस्तुतः भारतीय राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म और जागरण को, जो इस समय (1930) भारत में अपने पूर्ण यौवन में दिखाई दे रहा है, उसकी सबसे प्रबल प्रेरणा दयानन्द से प्राप्त हुई है।' इन सब दृष्टान्तों से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय एकता के विभिन्न पहलुओं पर स्वामी दयानन्द गम्भीरता से चिन्तन करते रहे हैं।

राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में स्वामी जी ने अंग्रेजों द्वारा प्रतिपादित वैमनस्य की भावना को दूर करने के लिए एक धर्म, एक भाषा और एक ईश्वर पूजा पद्धति की ओर देशवासियों का ध्यान दिलाया। उनकी मान्यता थी कि सभी भारतीय कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी पर्यन्त आर्यभाषा (हिन्दी) का प्रयोग करें। यही कारण है कि अपनी मातृभाषा गुजराती होते हुये भी उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना हिन्दी भाषा में ही की। इस प्रकार देशवासियों को एकता के सूत्र में बांधने का आग्रह करते हुये स्वामी जी ने भारतीयों में स्वदेश, स्वभाषा, स्वधर्म, स्वसाहित्य एवं स्वसंस्कृति के प्रति निष्ठा के द्वारा राष्ट्रोत्थान के लिए समाज में जातपात का विरोध, वर्ण भेद के जन्मगत होने का विरोध, पाखण्ड और अन्धविश्वासों का विरोध, बाल विवाह, सती–प्रथा का विरोध कर सुषुप्त राष्ट्र को जागृत किया।

अद्यावधि इस विषय पर पंजाब विश्वविद्यालय अथवा किसी अन्य विश्वविद्यालय से कोई शोधकार्य नहीं हुआ था, अतः इतने अधिक महत्त्वपूर्ण विषय पर शोधकार्य की आवश्यकता पर विचार कर मैं **'ऋषि दयानन्द का राष्ट्रीय चिन्तन'** विषय पर अनुसंधान करने को प्रयास–रत हुआ।

यह शोध–प्रबन्ध **छः अध्यायों** में विभक्त है। **प्रथम अध्याय** में "दयानन्द–जीवन चरित एवं वाङ्मय परिचय" पर प्रकाश डाला गया है। **द्वितीय अध्याय** में "संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्व" विषयों पर विचार किया गया है। **तृतीय अध्याय** में "दयानन्द वाङ्मय में राष्ट्रीय चेतना के सूत्र" का वर्णन किया गया है। **चतुर्थ अध्याय** में "राष्ट्रवादी दयानन्द की राजनीतिक अवधारणा" विषयों का अध्ययन किया गया है। **पंचम अध्याय** में "राष्ट्रोत्थान में शिक्षा का महत्त्व" को प्रस्तुत किया गया है। **षष्ठ अध्याय** में "राष्ट्रोत्थान में दयानन्द का आर्थिक–चिन्तन" का निरूपण किया गया है। अन्त में विषय का **उपसंहार** प्रस्तुत करते हुए शोध कार्य को समाप्त किया गया है।

किसी भी कार्य में हर प्रकार से परिपूर्णता लाना–मनुष्य के बस की बात नहीं है, पुनरपि यथाशक्ति और यथामति इस क्षेत्र में जो यह एक तुच्छ प्रयास कर पाया हूँ वह विद्वद्वर्ग के समक्ष समीक्षार्थ प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम मैं उस परमपिता परमेश्वर के सामने श्रद्धानत हूँ जिसके अनुग्रह से यह प्रस्तुत–शोध कार्य सम्भव हो सका। तदपुरान्त निदेशिका डॉ0 (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी, दयानन्द वैदिक शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस शोध विषय की ओर प्रेरित किया। अपने अनुवर्तियों के योगक्षेम के भार को अपने ऊपर लेने वाली, सरल, निरभिमानी और स्मितपूर्वाभिलाषी डॉ0 (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी जी के पादपद्मों पर तो मैं मौन भाव से ही अपनी आत्मिक श्रद्धा की पुष्पांजलि अर्पित करता हूँ क्योंकि उन्होंने अथ से लेकर इति तक मेरे लिए जो किया, उसे शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। मेरा यह शोधकार्य इस अवधि तक पूरा होना कठिन ही नहीं असम्भव ही था यदि इनका स्नेहयुक्त व्यवहार, विद्वतापूर्ण निर्देशन तथा मार्गदर्शन और इनके द्वारा संगृहीत विशाल साहित्य मुझे प्राप्त नहीं होता।

दयानन्द वैदिक शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डॉ0 विक्रम कुमार जी का भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग रहा है, तदर्थ मैं उनके प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के लेखन में मैंने जिन पुस्तकालयों, ग्रन्थों, शिक्षा संस्थाओं, संग्रहालयों, विद्वानों, पत्र पत्रिकाओं व स्नेहेहियों से सहायता ली है उन सबके प्रति आभार प्रदर्शन करना मेरा परम कर्त्तव्य है, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ के पुस्तकालय विभाग के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने समय–समय पर आवश्यक एवं उपयोगी पुस्तकें उपलब्ध कराके मुझे कृतार्थ किया। जिन विद्वानों की कृतियों और लेखों से मैंने इस शोध–प्रबन्ध के लेखन कार्य में किसी भी प्रकार से सहायता ली है वे सब धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं दयानन्द वैदिक शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय के कर्मचारियों (श्रीमती) सुनीता जी, श्री सन्तलाल और संस्कृत विभाग के श्री कुलदीप कालिया जी का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने समय–समय पर मुझे अनेकविध सहायता प्रदान की। इस शोध–प्रबन्ध के शुद्ध व सुन्दर टंकण हेतु श्री होशियार सिंह जी धन्यवाद के पात्र हैं।

श्रद्धेया माता श्रीमती गुरवचन देवी एवं पूज्य पिता श्री राजेन्द्र कुमार के शुभाशीष एवं कमलेश व डिम्पल दोनों बहनों के स्नेह अनुज गणेश के सौहार्द और पत्नी सीमा तथा प्यारी बेटी मानवी के स्नेहमयी सहयोग से इस दुष्कर कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हुआ हूँ।

जिन श्रद्धेय गुरुजनों की अपार कृपा एवं माता–पिता के आशीर्वाद से इस शोध कार्य को करने की क्षमता प्राप्त हुई उन्हीं के पावन चरणारविन्दों में, एक तुच्छ उपायन के रूप में, यह शोध–प्रबन्ध समर्पित है।

सूरज कान्त

संक्षेप संकेत सूची

अथर्व.	:	अथर्ववेद
अर्थ के मू. सिद्धा.	:	अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त
आ.स. का इति.		आर्यसमाज का इतिहास
आर्योद्देश्य.	:	आर्योद्देश्यरत्नमाला
ऋ.	:	ऋग्वेद
ऋ.द.भा.भा.	:	ऋग्वेद दयानन्द भाष्य भावार्थ
ऋ.भा.भू.	:	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऋ.द. के प. और वि.	:	ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन
गोक.	:	गोकरुणानिधि
यजु.	:	यजुर्वेद
यजु. द.भा.भा.	:	यजुर्वेद दयानन्द भाष्य भावार्थ
शा. प. अनु. उद्यो.	:	शान्तिपर्व अनुशासन पर्व उद्योग
साम.	:	सामवेद
स.प्र.	:	सत्यार्थप्रकाश
समु.	:	समुल्लास
स्वमन्तव्या	:	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश
महा.	:	महाभारत
मनु.	:	मनुस्मृति
द.ल.ग्र.स.	:	दयानन्द लघु ग्रन्थ संग्रह
प्र.द्वि.तृ.	:	प्रथम, द्वितीय, तृतीय
रामा.	:	रामायण
वे.के राज. सिद्धा.	:	वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त
बाल.अयो. आर. इत्या.	:	बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, आरण्यक काण्ड

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन :— i-iv

संक्षेप संकेत सूची v

विषयानुक्रमणिका vi-vii

प्रथम अध्याय : दयानन्द—जीवन चरित एवं वाङ्मय परिचय 1—30

1.1. दयानन्द का आविर्भाव एवं जीवन चरित।

1.2. दयानन्द वाङ्मय—परिचय।

1.3. दयानन्द और आर्यावर्तीय राष्ट्र।

1.4. दयानन्दकालीन राष्ट्रीय आन्दोलन।

द्वितीय अध्याय :— संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्व 31—60

2.1. राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ।

2.2. वेद प्रतिपादित राष्ट्र—तत्त्व।

2.3. ब्राह्मण, उपनिषद् एवं आरण्यकों में राष्ट्र।

2.4. रामायण एवं महाभारत कालिक राष्ट्र शब्द की अवधारणा।

2.5. धर्मशास्त्र में राष्ट्रीय चिन्तन।

तृतीय अध्याय :— दयानन्द वाङ्मय में राष्ट्रीय चेतना के सूत्र 61—95

3.1. (क) दयानन्दकालिक धार्मिक परिस्थितियाँ

(ख) दयानन्दकालिक सामाजिक परिस्थितियाँ

(ग) दयानन्दकालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ

3.2. भारत—स्वतन्त्रता के प्रेरक ऋषि दयानन्द

3.3. भारतीय राष्ट्रवाद का पुनरूत्थान

3.4. वर्णाश्रम—व्यवस्था

चतुर्थ अध्याय :— राष्ट्रवादी दयानन्द की राजनीतिक अवधारणा 96—134

4.1. राज्य की उत्पत्ति एवं राजधर्म।

4.2. राजा और प्रजा का सम्बन्ध।

4.3. राजा की राष्ट्रीयता एवं उसके कर्त्तव्य।

4.4. राज्य सभाएं और उनके सभासद्।

4.5. दण्डनीति, युद्धनीति, अर्थनीति और सैन्य नीति।

पंचम अध्याय :— राष्ट्रोत्थान में शिक्षा का महत्त्व 135—166

5.1. शिक्षा पद का अभिप्राय और शिक्षा की अनिवार्यता।

5.2. शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षा की पात्रता।

5.3. शिक्षा के क्षेत्र में गुरु शिष्य के राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य।

5.4. शिक्षा के विकास में राजा (शासन) के कर्त्तव्य।

षष्ठ अध्याय :— राष्ट्रोत्थान में दयानन्द का आर्थिक—चिन्तन 167—213

6.1. महर्षि दयानन्द की दृष्टि में 'अर्थ' और उसका महत्त्व।

6.2. दयानन्द का आर्थिक चिन्तन और राष्ट्र।

6.3. दयानन्द कालिक उत्पादन।

6.4. उद्योग धन्धे, कलाकौशल एवं शिल्प।

उपसंहार :— 214—223

सन्दर्भ—ग्रन्थ—सूची :— 224—228

ऋषि दयानन्द का राष्ट्रीय चिन्तन

प्रथम अध्याय

दयानन्द–जीवन चरित एवं वाङ्मय परिचय

1.1. दयानन्द का आविर्भाव एवं जीवन चरित।

1.2. दयानन्द वाङ्मय–परिचय।

1.3. दयानन्द और आर्यावर्तीय राष्ट्र।

1.4. दयानन्दकालीन राष्ट्रीय आन्दोलन।

1.1. दयानन्द का आविर्भाव एवं जीवन चरित।

उन्नीसवीं शताब्दी में जब भाव और भावनायें सोई हुई थी मानव पशुता के पहरे में मानस पर अंधियारा कर अपनी विजय के मद में गर्व से इठला रहा था, तब महर्षि दयानन्द ने समय को स्वर, स्वर को गीत, गीत को भाषा और भाषा को संबल प्रदान कर अंधकार को पदुच्युत ।केया और सदियों से सुषुप्त पड़ी राष्ट्र की चेतना अव्यक्त से व्यक्त की ओर, सुषुप्ति से जागृति की ओर जड़ता से प्रगति की ओर ले जाकर नवनिर्माण की आधारशिला रखी। महर्षि दयानन्द के बहुआयामी व्यक्ति में एक साथ ही अप्रतिम धर्माचार्य, निर्भीक समाज सुधारक, राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक तथा सर्वविध शाषण के विरोध में आवाज उठाने वाले एक तेजस्वी के दर्शन होते हैं।

महर्षि दयानन्द ने अपने जीवन का अधिकांश भाग एक संन्यासी के रूप में व्यतीत किया था। वह भी एक ऐसे संन्यासी के रूप में, जो सांसारिक माया के मोह को त्याग कर केवल जंगल में ।विचरने में ही अपने जीवन की सार्थकता नहीं समझता है, अपितु जो समष्टि के हित तथा सभी प्रणियों के मंगल–विधान के लिये हर पग पर चिन्तित रहता है और उसके साथ ही समाज की पीड़ा, दुःख एवं क्लेशों को दूर करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का इस पावन ऋषि भूमि पर आविर्भाव 1824 ई. में काठियावाड़ के मौरवी राज्यान्तर्गत टंकारा नामक ग्राम में श्री कर्षन जी तिवारी के सम्पन्न परिवार में हुआ।[1] इनके पिता श्री कर्षन जी तिवारी सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे।[2] जो अपनी धार्मिक आस्थाओं के एवं विधि–विधानों की परम्परानुमोदित व्यवस्थाओं

---

1. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय, दयानन्द चरित्र, भाग–2. पृ. 1.
2. डॉ0 भवानीलाल भारतीय
   नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती। शैशव और अध्ययन, पृ.3.

के कट्टरता पूर्वक करने में ही अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री समझते थे। महर्षि का बाल्यकाल का नाम मूलशंकर था। पंचम वर्ष में मूलशंकर का विद्यारम्भ हुआ एवं आठवें वर्ष में इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। 14 वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते मूलशंकर ने शैव धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन चिन्तन और मनन किया एवं यजुर्वेद–संहिता सम्पूर्ण कंठस्थ की ली। इतना ही नहीं, इस अल्पायु में ही उन्होंने निरुक्त, निघण्टु, पूर्वमीमांसा एवं कर्मकाण्ड के कतिपय ग्रन्थों का अध्ययन भी पूर्ण कर लिया था।[1]

मूलशंकर 16वें वर्ष में थे तभी उनकी 14 वर्षीय बहन विषूचिकाग्रस्त हो दिवंगत हो गई। तीन वर्ष पश्चात् उनके चाचा के निधन ने उन्हें संतप्त किया। इस अल्पायु में मौत की इन दोनों घटनाओं ने दयानन्द के मन में जीवन के प्रति वैराग्य का अंकुर उत्पन्न किया।

21 वर्ष की युवावस्था में अमरत्व के पिपासु मूलशंकर ने सांसारिक बंधनों का मोह त्याग दिया एवं ब्रह्मचारी शुद्ध चैतन्य नाम धारण किया और सच्चे शिव की खोज में 15 वर्ष तक भटकते रहे। मृत्युञ्जय बनने के लिये दयानन्द ने लगभग समग्र भारत में भ्रमण किया। पर्वतों में भ्रमण करते हुए उन्होंने संन्यास लेना चाहा परन्तु अल्पायु होने के कारण संन्यासी गण भी संकोच करते थे। एक दिन दक्षिणी संन्यासी स्वामी पूर्णानन्द से प्रव्रज्या लेकर दयानन्द सरस्वती हो गये। 'नाना स्थानों पर ज्ञान की खोज में भटते हुए उन्हें कहीं भी तृप्ति न मिली। फिर मथुरा में गुरु विरजानन्द दण्डी स्वामी की विद्वता का यश सुनकर कार्तिक शुक्ला द्वितीय बुधवार 1917 वि. 14 नवम्बर 1860 को दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द का द्वार खटखटाया। प्रज्ञा चक्षु होने पर भी विरजानन्द जी ने दयानन्द की प्रतिभा को पहचान कर तीन वर्षों तक उन्हें विद्या का

---

1. ऋषि दयानन्द स्वरचित लिखित वा कथित जन्म चरित्र, विद्या प्रकाश प्रेस लाहौर, पृ. 10–12.

प्रकाश दिया।[1] इन वर्षों में उन्होंने अष्टाध्यायी (पाणिनी) महाभाष्य (पंतजलिकृत आदि व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त निघण्टु–निरुक्त आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। यहीं पर महर्षि को आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों का भी विवेक हुआ। तत्पश्चात् दयानन्द गुरु चरणों में गुरु–दक्षिणा के दिन लौंग लेकर उपस्थित हुए। तव गुरु जी ने उनसे एक विचित्र गुरु–दक्षिणी मांगी– "वत्स। मुझे लौंगें नहीं चाहिए, तुम्हारा जीवन चाहिए, देश का उपकार करो। सत शास्त्रों का उद्वार करो। अज्ञान तम दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलाओ।" ऐसी गुरु जी द्वारा दक्षिणा मांगने पर दयानन्द ने प्रसन्नता पूर्वक विरजानन्द जी की आज्ञा का पालन किया एवं जिससे राष्ट्र का अन्धकार दूर हो ऐसा करने के लिए दयानन्द ने कर्म–क्षेत्र में पग रखा।[2] तत्कालीन भारतीय समाज जीर्ण–शीर्ण हो रहा था। ईसाई–धर्म और मुस्लिम धर्म हिन्दू धर्म पर तीक्ष्ण प्रहार कर रहे थे। वे भारतीय धार्मिक ग्रन्थों कि खिल्ली उड़ा रहे थे। दयानन्द ने यह जान लिया था कि उसे चारों दिशाओं में संघर्ष करना पड़ेगा। दयानन्द ने दृढ़ संकल्प से गुरु आदेश का पालन करते हुए कि अब उसे आडम्बरों, पाखण्डों, ब्रह्मचारों, अविद्या, परतन्त्रा, विदेशी प्रभाव के विरुद्ध युद्ध करना ही है।

महर्षि के जीवन काल में ही उनके सिद्धान्तों का सर्वत्र प्रचार–प्रसार हुआ। अनेकों जन उनके अनुयायी बने और अनेकों ने उनकी ओजस्वी वाणी को सुना। राजाओं ने भी उनके उपदेशानुसार अपने जीवन को परिवर्तित किया। मौखिक प्रचार के साथ–साथ ग्रन्थ रचना भी महर्षि के प्रचार कार्य का महत्त्वपूर्ण अंग था। उन्होंने अपने स्वल्प काल में यजुर्वेद पर सम्पूर्ण भाष्य एवं ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के 61वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र तक का भाष्य किया, सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा अन्य अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

---

1 पं. लेखराम, महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, पृ. 44.

2. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, दयानन्द चरित्र भाग–2, पृ. 25–26.

महर्षि गुणकर्म द्वारा वर्णाश्रम के मान्यता देते थे। बाल–विवाह का खण्डन करना, विधवाविवाह की आवश्यकता पर भारतवासियों का ध्यान खींचना, एक ईश्वर का प्रचार करना, पाखण्डों– आडम्बरों को छोड़ने का सन्देश देना आर्यभाषा और आर्य संस्कृति को अपनाना ऐसी शास्त्रानुकूल वातों को समझाकर वे गूढ़ निद्रा में सोये हुए राष्ट्र को जागने की सलाह देते थे। उनका अनुरोध स्वराज्य की स्थापना के लिए था। राष्ट्र और भारतीयों के कल्याण के लिए यह सब कुछ अनिवार्य था।

महर्षि की निर्भीकता, स्पष्टवादिता एवं पाखण्ड विरोध से अनेकों अधर्मी व्यक्ति उनके कट्टर शत्रु बन गये थे। शत्रुता के कारण आपको दूध के साथ तीक्ष्ण विष मिलाकर पिला दिया, जो स्वामीजी के लिए प्राण घातक सिद्ध हुआ।

30 अक्तूबर 1883 ई. को सायं 5.30 बजे जब सारा भारत दीप पंक्तियों से जगमगा रहा था तब महर्षि दयानन्द ने यह कहकर इस नश्वर देह का परित्याग कर दिया "हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान ईश्वर "तेरी यही इच्छा है, मेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा तूने अच्छी लीला की।" ऐसे कहते हुए इस महापुरुष ने संसार से विदा ली।"[1]

1.2. दयानन्द वाङ्मय का परिचय :–

महर्षि दयानन्द प्रणीत ग्रन्थों का आधुनिक युग में बहुत महत्त्व है क्योंकि एक तो इन्हीं ग्रन्थों द्वारा हम उनके विचारों से अवगत हो सकते हैं, दूसरे हमें अपने कई प्रश्नों का उत्तर उनके ग्रन्थों में मिल जाता है। महर्षि ने भारतीय समाज के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए लेखन को एक सशक्त साधन के रूप में प्रयुक्त किया था।[2] जिसका विवरण निम्न प्रकार से है :–

---

1. द्रष्टव्य– भवानीलाल भारतीय, नवजागरण को पुरोधा : दयानन्द सरस्वती। पृ. 483–543.
2. सं. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृ. 10–11.

1. संध्या :–

महर्षि दयानन्द सरस्वती की यह रचना है। इस पुस्तक में निराकार–उपासना के महत्त्व और विधि पर विस्तारपूर्वक महर्षि ने प्रकाश डाला गया है। इस रचना का प्रकाशन सन् 1863 में आगरा में करवाया गया। यह बहुत लोकप्रिय रचना थी। आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व ही इसके छः संस्करण छप चुके थे।[1]

2. भागवत खण्डन :–

संस्कृत भाषा में लिखी हुई यह उनकी दूसरी रचना है। सात पृष्ठ की इस पुस्तक में भागवत पुराण का खण्डन किया गया है जो इस रचना के नामकरण से ही स्पष्ट है। इस रचना की सबसे पुरानी हस्तलिखित प्रति 7 जून सन् 1866 की लिखी हुई पंडित किशन लाल शास्त्री किशनगढ़ के पास विद्यमान है। भागवत खण्डन पुस्तक ही सुमार्ग दिखाने वाली रचना है।[2]

3. अद्वैत मत–खण्डन :–

यह ग्रन्थ वाराणसी में 13 जून 1870 ई. में प्रकाशित हुआ। यह ट्रैक्ट महर्षि ने काशी–निवासकाल में शास्त्रार्थ संख्या 2 के पश्चात् दूसरी वार लिखा और पृथक् यत्न करके 'कविवचन सुधा मासिक हिन्दी पत्र में संस्कृत भाषा में भाषाभाष्य सहित मुद्रित कराया। इस पुस्तक में नवीन वेदान्त की आलोचना की गई है।[3]

4. गर्दभतापिनी उपनिषद् :–

महर्षि की यह पुस्तक श्रोताओं के मनोरंजनार्थ सन् 1874 ई. में प्रकाशित करवाई गई थी। अपने सेवकों की मानसिक प्रसन्नता के लिए महर्षि कभी–कभी इस रचना से

---

1. सं. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृ 10–11.
2. स्वामी दयानन्द, सरस्वती, भागवत खण्डन, पृ. 1.
3. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, दयानन्दचरित भाग–1, पृ. 51.

वचन उद्धृत करके सुनाया करते थे।[1]

5. सत्यार्थप्रकाश :

सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ महर्षि की बहुत प्रसिद्ध रचना है जो कि 1875 में प्रकाशित हुई थी। इस रचना में महर्षि के विचारों और सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन मिलता है इसमें दो भाग हैं, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। प्रथम संस्करण में पूर्वार्द्ध में 10 और उत्तरार्द्ध में 4 समुल्लास हैं। अन्तिम दो समुल्लास शीघ्रता के कारण इस संस्करण में नहीं छप सके। परन्तु महर्षि ने दूसरे संस्करण में इनको प्रकाशित करवा दिया था। इस प्रकार सत्यार्थ–प्रकाश में 14 समुल्लास हैं। धार्मिक ज्ञान का भण्डार विद्या सम्बन्धी खोज का कोष, वैदिक धर्म का जर्मी मैगजीन है। जिसने एक बार उसे पूर्णतया समझकर पढ़ लिया फिर सम्भव नहीं कि कभी वैदिक धर्म से दूर हटें। सत्यार्थप्रकाश महर्षि जी की धार्मिक विजय का स्मृतिस्तम्भ है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क को यह ग्रन्थ बहुत सी नवीन बातें सिखलाता है ये हम दावे के साथ कह सकते हैं।[2] यथा–

1. प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्कारादि नामों की व्याख्या है।
2. द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।
3. तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठन–पाठन, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम और पढ़ने–पढ़ाने की रीति।
4. चतुर्थ में विवाह और गृहास्थाश्रम का व्यवहार।
5. पंचम में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि।
6. छठे में राजधर्म की व्याख्या।
7. सातवें में वेदेश्वर विषय।

---

1. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, दयानन्द चरित्र, पृ. 279.
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश,

8. आठवें में जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का वर्णन है।[1]

9. नवम में विद्या, अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या की गई है।

10. दशवें में आचार, अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषयों का वर्णन है।

11. एकादश में आर्य्यावर्तीय मत–मतान्तर का खण्डन–मण्डन है।

12. द्वादश में चारवाक, बौद्ध और जैनमत का विषय है।

13. त्रयोदश में ईसाई मत की व्याख्या है।

14. चौदहवें में मुसलमानों के मत का विषय और वैदिक मत की विशेषता दिखाई गई है।[2]

इस ग्रन्थ के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश भी है। इसमें महर्षि ने अपने मन्तव्यों को संक्षेप में स्पष्ट किया है। आर्यसमाज का आज यह अधारभूत ग्रन्थ है।

6. पंचमहायज्ञ–विधि :–

इसका प्रथम संस्करण 1874 ई. में प्रकाशित हुआ था। पंचममहायज्ञों की विधि लोगों को समझाने के लिए महर्षि दयानन्द ने गंगा के तट पर उपदेश देना आरम्भ किया। ये पंचयज्ञ ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ इन पांचों महायज्ञों के महत्त्व को दिखाया गया है। इस पुस्तक में पंचमहायज्ञ करने की विधि लिखी गई है। वैदिक धर्मियों के ये पाँच महायज्ञ नैत्यिक कर्त्तव्यों में मुख्य माने जाते हैं। महर्षि दयानन्द सैंकड़ों पुस्तकें सन्ध्या की लिखवाकर बांटते रहे जिससे साधारण लोगों को पंच महायज्ञों का ज्ञान हों।[3]

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास से अष्टम समुल्लास, पृ. 1–212.
2. ऋषि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास से चतुर्दश समुल्लास। पृ.213–552.
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, पंचमहायज्ञविधि, पृ. 4 एवं 23.

7. वेदान्तिध्वान्तनिवारण :–

सन् 1874 ई. में प्रकाशित इस ग्रन्थ में नवीन वेदन्तियों के सिद्धान्तों का तर्कपूर्ण ढंग से खण्डन किया गया है। नवीन वेदान्त के खण्डन किया गया है। नवीन वेदान्त के खण्डन में महर्षि की यह दूसरी पुस्तक है। वेदान्त खण्डन अत्यन्त उपयुक्त और रोचक रचना है। भाषा इसकी संस्कृत और हिन्दी है।[1]

8. वेदविरुद्धमत– खण्डन :–

महर्षि की यह पस्तक सं. 1874 ई. में प्रकाशित हुई थी। इसमें वैष्णवों के वल्लभमत का खण्डन बड़े ही प्रभावशाली और तर्क पूर्ण ढंग से किया गया है। इस रचना को "वल्लभाचार्य–मत–खण्डन' के नाम से भी जाना जाता है। "इसमें कुल 24 पृष्ठ हैं मूल ग्रन्थ संस्कृत में हैं जिसका भाषानुवाद पं. भीमसेन शर्मा ने किया है।[2]

9. स्वामी नारायण मत खण्डन :–

यह ग्रन्थ भी 1874–75 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसमें स्वामी नारायण के मत का खण्डन किया गया है। दूसरा नाम इस पुस्तक का 'शिक्षापत्री–ध्वान्तनिवारण" भी है।[3]

10. आर्याभिविनय :–

इस रचना का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् 1876 ई. में हुआ था। इसमें 50 मन्त्र ऋग्वेद के और 50 मन्त्र यजुर्वेद के हैं इनमें वैदिक के यथार्थ रूप का ज्ञान करवाया गया है। यह एक अपूर्व ग्रन्थ हैं। इसमें प्रभु–भक्ति के लिए सही दिशा–बोध किया गया है।[4]

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती, वेदन्तिध्यान्तनिवारण, पृ. 1–2.
2. देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, दयानन्द चरित (प्रथम भाग) पृ. 268–269.
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, पृ. 1–18.
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्याभिविनय की उपक्रमणिका।

11. संस्कार विधि :–

महर्षि ने मनुष्य को सुसंस्कृत बनाने के लिए मुख्य 16 वैदिक रीति के संस्कारों का व्याख्या सहित वर्णन किया है। 16 संस्कारों के महत्त्व और इनकी आवश्यकता पर भी प्रकाश डाला है जो गर्भाधान से लेकर मरण पर्यन्त करने योग्य हैं। इसके अध्ययन से प्रकट होता है कि प्राचीन ऋषि किस प्रकार इस संसार में अपनी जीवनयात्रा को पूरा करते थे। महर्षि ने यह ग्रन्थ पुरातन पद्धति से पूर्ण संस्कार सम्बन्धी पुस्तकों से संग्रह करके बनाया है। इसकी प्रत्येक गृहस्थ के घर में आवश्यकता है। अब तक लगभग इसकी आठ लाख प्रतियाँ लोगों ने प्राप्त की हैं। इसका प्रथम प्रकाशन सन् 1976 में हुआ था।[1]

12. आर्योद्देश्यरत्नमाला :–

महर्षि दयानन्द ने सन् 1877 में 100 उद्देश्यों का एक संग्रह आर्योद्देश्यरत्नमाला के नाम से प्रकाशित किया। सौ उद्देश्यों से परिचित करवाते हुए महर्षि ने इसमें मनुष्य के लिए वैदिक संस्कृति और सभ्यता के आधार पर चलने का निर्देश दिया गया है। इस ग्रन्थ में जन्म, मरण, मुक्ति, विद्या, अविद्या, स्तुति, उपासना, वर्ण, आश्रम यज्ञादि विषयों की परिभाषाएं प्रस्तुत की गई हैं।[2] महर्षि का यह सिद्धान्त परक ग्रन्थ है।

13. भ्रान्ति–निवारण :–

इस रचना का प्रकाशन काल 1877 ई. है। महर्षि के वेदभाष्य के नमूने पर जो आक्षेप संस्कृत कालिज कलकत्ता के आचार्य महेशचन्द्र ने किये थे। महर्षि दयानन्द ने उनका उत्तर इस पुस्तक द्वारा दिया। इस रचना में महर्षि ने मूर्ति पूजादि सब की भ्रान्ति अर्थात् सन्देह दूर करने के अर्थ से 'भ्रान्तिनिवारण' ग्रन्थ की रचना की।[3]

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती, संस्कारविधि, पृ. 76–255.
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती, द्रष्टव्य, आर्योद्देश्यरत्नमाला।
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, द्रष्टव्य– भ्रान्तिनिवारण।

14. आत्मचरित :–

महर्षि दयानन्द ने अपना बहुत ही संक्षिप्त जीवन लिखकर थियोसोफिकल सोसायटी के कर्नल अल्काट के आग्रह से उन्हें भेजा था जो उन्होंने छापा था। 4 अगस्त सन् 1875 ई. में इसके अतिरिक्त पूना आर्य समाज में व्याख्यान माला के अन्तिम चरण में वहाँ के आर्य बंधुओं के अनुरोध पर उन्होंने अपना जीवन चरित्र वर्णित किया था। पं. भगवद्दत्त ने उन्हीं के आधार पर "आत्म–चरित" नाम पुस्तक का सम्पादन किया है।[1]

15. संस्कृत वाक्य–प्रबोध :–

इस पुस्तक का निर्माण काल 1879 ई. है। इस पुस्तक में संस्कृत व्याकरण और इसकी सरलता से बोल पाने की विधि वर्णित है। इसके अध्ययन से बोलचाल की संस्कृत सहज ही सीखी जा सकती है। इससे महर्षि की संस्कृत भाषा सम्बन्धी गहरी पकड़ का पता चलता है।[2]

16. व्यवहार भानु :–

महर्षि ने 34 पृष्ठों की इस पुस्तक की रचना सन् 1879 में की थी। इस महत्त्वपूर्ण छोटी सी पुस्तक में उन्होंने सबके लिए धर्मयुक्त व्यवहार की व्याख्या की है जो सबको सुख देने वाले हैं। इसमें उत्तम शिक्षा, उत्तम व्यवहार, उत्तम ज्ञान क्या है एवं हमें एक दूसरे से कैसे रहना चाहिए ये सब स्पष्ट किया गया है। इसमें प्रश्नोत्तर द्वारा विद्या, अविद्या, सत्य, असत्य, आचार्य और विद्यार्थी के कर्त्तव्य, ब्रह्मचर्य आदि के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है। यह रचना बालकों और साधारण पठित व्यक्तियों के लिए लाभदायक और कल्याणकारी है।[3]

---

1. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास पृ. 174.
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती, द्रष्टव्य– संस्कृतवाक्यप्रबोध।
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, व्यावहारभानु, भूमिका, पृ. 20.

17. भ्रमोच्छेदन :–

महर्षि दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर जब काशी नरेश शिव प्रसाद ने आक्षेप किए थे, तो उनका 'भ्रमोच्छेदन' नामक ग्रन्थ लिखकर उत्तर दिया है। राजा ने फिर द्वितीय निवेदन लिखा जिसके प्रत्युत्तर में महर्षि ने पं0 भीमसेन द्वारा 'अनु भ्रमोच्छेदन' लिखवाकर प्रकाशित किया था। सभी भ्रमों का निवारण तर्क के आधार पर इसमें बड़ी ही विद्वत्ता और सही ढंग से और यथार्थ–सत्य के आधार पर किया गया है।[1]

18. गोकरुणानिधि :–

यह ग्रन्थ महर्षि ने नैतिक सभ्यता और दयालुता में अत्यन्त प्रबल विकार उत्पन्न करने वाले, माँस–भक्षण तथा मद्यपान– इन दो कार्यों के विरूद्ध लिखा और इस नववैज्ञानिक युग में केवल शास्त्रीय प्रमाणों से ही काम नहीं लिया, प्रत्युत्त युक्तियुक्त तर्क के द्वारा इन दोनों के विनाशकारी प्रभावों को संसार के सामने उपस्थित किया। इस ग्रन्थ की रचना मूक पशुओं की रक्षा हेतु महर्षि ने सन् 1880 ई. में की। महर्षि के हृदय से गोरक्षा की उत्कृष्ट भावना का भी ज्ञान होता है। इस रचना ने भारत में लोगों को गौ–रक्षा के लिए तैयार किया था।[2]

19 पाखण्ड खण्डन :–

हरिद्वार के कुम्भ के अवसर पर महर्षि ने सन् 1867 ई. में 'पाखण्ड–खण्डन' नामक पुस्तक की रचना की थी। इसमें सभी पाखण्डों का खण्डन किया गया है।[3]

20. शास्त्रार्थ–सम्बन्धी :–

महर्षि के इन स्वरचित ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके शास्त्रार्थ भी पुस्तकाकार के रूप में छप चुके हैं। "दयानन्द–शास्त्रार्थ" आदि नामों से जिनको प्रकाशित किया है।

---

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती, दृष्टव्य भ्रमोच्छेदन।
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती, गोकरुणानिधि।
3. स्वामी दयानन्द सरस्वती, द्रष्टव्य– पाखण्ड–खण्डन।

वह यह हैं– (1) काशी शास्त्रार्थ (1869) (2) हुगली शास्त्रार्थ (1873), (3) जालंधर शास्त्रार्थ (1871), (4) चांदपुर शास्त्रार्थ सत्य धर्म विचार (1880), (5) बरेली शास्त्रार्थ (1879), (6) अजमेर शास्त्रार्थ (1880), (7) मसूदा शास्त्रार्थ (1880), (8) उदयपुर शास्त्रार्थ (1882) आदि।[1]

21. व्याख्या–ग्रन्थ और अनुवाद–ग्रन्थ, वेदभाष्य :–

महर्षि के व्याख्या ग्रन्थों और अनुवादों में अष्टाध्यायी भाष्य, वेदान्त–प्रकाश है तथा वेद–भाष्यों में ऋग्वेद–भाष्य, यजुर्वेद–भाष्य प्रमुख हैं। इन वेद–भाष्यों की भूमिकाएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं। दयानन्द के वैदिक–ग्रन्थों में "ऋग्वेदादिभाष्य' उत्तम मानी गई है। इन रचनाओं से दयानन्द की असाधारण योग्यता, मौलिक–प्रतिभा, और दूरदर्शिता का परिचय मिलता है।[2]

22. पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित :–

महर्षि के प्रवचन भी काफी महत्त्वपूर्ण थे। वे राष्ट्र को जगाने के लिए अपनी अमृतमय वाणी को पत्रों में लिखकर जन–जन तक पहुँचाया करते थे। उन द्वारा निकाले गए विज्ञापन भी उनके मन्तव्यों की ही पुष्टि करते थे।

23. अप्रकाशित ग्रन्थ :–

दयानन्द के कुछ संस्कृत भाषा और पठन–पाठन के ग्रन्थ अभी भी अप्रकाशित हैं।

1. वार्तिक पाठ भाष्य।
2. अष्टाध्यायी कायादी पात्र।
3. प्राकृत–संस्कृत अनुवाद।
4. महाभाष्य संक्षेप।

---

1. सं. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास, पृ. 145–215.
2. वही– पृ. 145–215.

24. सूची ग्रन्थ :–

महर्षि ने आर्य ग्रन्थों के अध्ययन एवं शोध के लिए अनेकों ऐसी पुस्तकों की रचना की थी जिनसे आर्य ग्रन्थों के अध्ययन तथा शोध में अत्यधिक सहायता मिल सकती है। ये सूची ग्रन्थ अभी अप्रकाशित हालत में हैं– यथा–

1. चतुर्वेद विषय सूची
2. ऋग्वेद मन्त्र सूची
3. यजुर् अथर्व मन्त्र सूची
4. अथर्व मन्त्र सूची
5. वेद ब्राह्मण सूची
6. निरुक्त की विषय सूची
7. ऐतरेय ब्राह्मण सूची
8. शतपथ ब्राह्मण सूची
9. तैत्तिरीयोपनिषद् मिश्रित सूची
10. ऋग्वेद विषय स्मरणार्थ सूची
11. धातु पाठ सूची
12. कारिका संकेत सूची
13. निघण्टु सूची
14. ऐतरेय उपनिषद् सूची
15. छान्दोग्योपनिषद् सूची
16. ऋग्वेद सूक्त सूची
17. शतपथ शिलाष्ट प्रतीक सूची
18. कुरान सूची
19. बाइबल सूची
20. कुरान अनुवाद
21. जैन धर्म ग्रन्थ सूची

22. जैन श्लोक सूची

23. राम स्नेही मल का गुटका।

ये पुस्तकें महर्षि ने स्वयं लिखी हैं या लिखवाई हैं परन्तु अभी अप्रकाशित हैं।

25. गौतम अहिल्या की कथा :–

यह पुस्तक सन् 1879 ई.में प्रकाशित हुई थी। इसमें गौतम और अहिल्या का व्याख्यान है।

महर्षि दयानन्द के लगभग 66 ग्रन्थों की सूची मिल जाती है जिनमें कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित हैं। परन्तु उनके सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एवं वेद–भाष्य सभी प्रकाशित हो चुके हैं। अतः दयानन्द ने अपने प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार,[1] दार्शनिक कर्म–योगी होने की छाप भी भारतीय जनमानस के हृदय पटल पर अंकित कर सुषुप्त राष्ट्र को जगाया है।

1.3. दयानन्द और आर्यावर्तीय राष्ट्र :–

महर्षि दयानन्द ही भारतीय धर्माचार्यों में प्रथम पुरुष थे, जिन्होंने धर्म, अध्यात्म और दर्शन जैसे महत्त्वपूर्ण पारलौकिक विषयों की चर्चा करते हुए भी राष्ट्रीय गौरव और देशभिमान का सर्वत्र ओजस्विनी वाणी एवं स्फूर्त्त उच्छ्वासपूर्ण शैली में उल्लेख किया। आर्यावर्तीय मत–मतान्तरों के खण्डन–मण्डन के विषय को आरम्भ करने से पूर्व वे स्वदेश–गौरव का आख्यान करने में प्रवृत्त हुए। पुरःकाल में भारत भूमि को अन्य देशवासी धन धान्य और वैभवपूर्ण 'स्वर्ण–भूमि' के नाम से जानते थे। उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि आर्यावर्त के तुल्य समस्त भू–मण्डल में कोई अन्य देश नहीं है।

आर्यों के मूल निवास स्थान के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मतवाद प्रचलित है। श्री अविनाशचन्द्र दास जैसे विद्वानों ने उसका सोपपत्तिक खण्डन अपने 'ऋग्वैदिक

---

1. पं. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ. 741.

इण्डिया'' ग्रन्थ में किया है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों में की ज्योतिषपरक व्याख्या करते हुए आर्यों का मूल निवास उत्तरी ध्रुव प्रदेश बताया था।[1] पश्चिमी विद्वानों ने न केवल आर्यों के अन्य स्थानों से भारत आगमन को ही सिद्ध करना चाहा अपितु इस बात का भी प्रतिपादन किया कि उनके आने से पूर्व यहाँ द्रविड नाम की एक अन्य सभ्य जाति निवास करती थी, जिसका सम्पूर्ण विनाश कर आर्यों ने अपनी सभ्यता का विस्तार किया। उनके अनुसार द्रविड लोग रंग में काले, चपटी नाक वाले, बड़े–बड़े भवनों और दुर्गों का निर्माण करने वाले तथा लिंग पूजक (शिश्नदेवा) थे।

यूरोपीय विद्वानों के अनुसार सामान्यतया आर्य जाति मध्य एशिया में किसी स्थान पर रहती थी और वहाँ से आव्रजक, प्रवासी और घुमन्तू जातियों की भाँति वह भारत के उत्तरी भाग में (जिसे उन्होंने सप्त–सिन्धु प्रदेश कहा है तथा जो आज का पश्चिमी सीमाप्रान्त (पाकिस्तान) तथा पंजाब (पूर्वी और पश्चिमी) है) ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व ही प्रविष्ट हुई।[2] परन्तु अब ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि आर्यों का आदिम निवास आर्यावर्त्त में ही था। सत्यार्थप्रकाश में महर्षि ने यह प्रतिपादन किया है कि आर्य ही आर्यावर्त्त के मूल निवासी हैं और उनके बाहर से आने की कल्पना पूर्ण निराधार है। इसी ग्रन्थ में महर्षि ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सृष्टि के आरम्भ काल में मनुष्योत्पत्ति पृथ्वी के सर्वोच्च स्थल त्रिविष्टप (वर्तमान तिब्बत) में हुई तथा वहाँ से ही आर्यगण भू–मण्डल के इस सर्वश्रेष्ठ खण्ड 'आर्यावर्त्त' में आये। उनका मूल निवास होने के कारण ही यह स्थल (आर्यावर्त) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[3]

---

1. द्रष्टव्य– लोकमान्य तिलक लिखित The Arctic Home in the Vesdas
2. प्रो0 (डॉ0) भवानीलाल भारतीय, भारतवर्षीय मत–मतान्तर समीक्षा, पृ. 64.
3. सत्यार्थप्रकाश, अष्टमसमुल्लास, पृ. 212–213.

भारतवर्ष सदा से भूमण्डल की समग्र मानव जाति का आदि गुरु रहा है। यहाँ के समस्त मनुष्यों ने अग्रजन्मा ब्राह्मणों के चरणों बैठकर ही धर्म, अध्यात्म और चारित्र्य की शिक्षा ग्रहण की है। आचार्य मनु के शब्दों में–

एतद्देशप्रसूतस्य सकशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[1]

अर्थात् आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मण अर्थात् विद्वानों से भूगोल के मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, दस्यु, म्लेच्छ आदि सब अपने–अपने योग्य विद्या, चरित्रों की शिक्षा और विद्याभ्यास करें।

महर्षि दयानन्द की ध्रुव धारणा थी कि सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर पाँच हजार वर्ष पूर्व तक (अर्थात् महाभारत काल पर्यन्त) आर्यों का अखण्ड चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य समस्त पृथ्वी–मण्डल पर रहा। महाभारत से भी आर्यों के सार्वभौम प्रभुत्व की सूचना मिलती है। महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण के परामर्शानुसार जिस राजसूय यज्ञ का सम्पादन किया उसमें अन्य देशवासी राजा अपनी माण्डलिक सत्ता और स्थिति के अनुसार चक्रवर्ती सम्राट, युधिष्ठिर के प्रति सम्मान व्यक्त करने हेतु सम्मिलित हुए थे। उदाहरणार्थ चीन के राजा भगवत्त, पाताल देश (अमेरिका) के शासक वभ्रुवाहन, यूरोप के चिडलाक्ष एवं यूनान (यवन) शब्द का स्पष्ट उल्लेख महाभारत में मिलता है। तत्कालीन रघुवंशी राजाओं का आधिपत्य समग्र पृथ्वी–मण्डल पर था यह रामायण कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने से विदित होता है।[2]

आर्यों की पुराकालीन सुदृढ़ राज–व्यवस्था, सम्पन्न आर्थिक स्थिति तथा समृद्धि संस्कृति के होने पर भी पाँच हजार वर्ष पूर्व महाभारत काल से ही उनका सार्वत्रिक

---

1. मनुस्मृति, 2.20.
2. प्रो0 (डॉ0) भवानीलाल भारतीय, भारतवर्षीय मत–मतान्तर समीक्षा, पृ.66.

अधःपतन होने लगा। आर्य जाति के पतनावस्था का कारण महर्षि ने आलस्य, पुरुषार्थ हीनता, ईर्ष्या, द्वेष, विषया शक्ति, प्रमाद, विद्यानाश, दुर्गुण और दुर्व्यसनों की वृद्धि, मद्य–मांस सेवन, बाल–विवाह, स्वेच्छाचारिता आदि को भारत की अधोगति के लिये उत्तरदायी ठहराया है।

प्राचीनकाल में आर्यों ने युद्ध विद्या में अपार उन्नति और प्रगति की थी। संस्कृत के शताधिक ग्रन्थ ऐसे हैं जो सेना की साज–सज्जा, युद्ध–कौशल तथा रणनीति को लक्ष्य बनाकर लिखे गये हैं। उनमें जिन अस्त्र–शस्त्रों का उल्लेख है उनसे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में अग्नि, वाष्प, वायु, जल, विद्युत आदि प्राकृतिक शक्तियों का विभिन्न प्रकार से उपयोग कर आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र तथा मोहनास्त्र जैसे अस्त्रों का आविष्कार किया गया था। संस्कृत भाषा में 'शतघ्नी'[1] और 'भुशुण्डी' के नाम से जो प्रचलित थे आज उन्हें तोप और बन्दूक कहते हैं। मध्यकाल में जब आर्यों के पुरुषार्थ, पराक्रम और ज्ञान–विज्ञान का सार्वत्रिक विनाश हुआ तो विभिन्न अंध–विश्वासों ने जड़ जमाई। मिथ्या तंत्र–मन्त्रों का प्रचार हुआ और सामान्य लोग यह मानने लगे कि देवताओं को मन्त्रों से सिद्ध कर किसी भी शत्रु का अनिष्ट किया जा सकता है। महर्षि ने तंत्र–मत्रों का खण्डन किया और आर्य जाति के विगत कालीन सार्वदेशिक प्रभाव और प्रभुत्व का निर्देशन किया है।[2]

---

1. प्रो0 (डॉ0) भवानीलाल भारतीय, भारतवर्षीय मत–मतान्तर समीक्षा, पृ.66.
2. निम्न आचार्यों ने यंत्र विद्या पर संस्कृत में ग्रन्थ रचना की थी– नारायण, शौनक, गर्ग, वाचस्पति, चाक्रायणि, धुण्डिनाथ, विश्वनाथ, गौतम, लल्ल, विश्वम्भर, अगस्त्य, बुडिल, गोभिल, शाकटाचन, अत्रि, कयदि, गालव, अग्निमित्र, वाताप,साम्ब, बोधायन, भरद्वाज, सिद्धनाथ,ईश्वर, आश्वलायन, व्यास, पराशर, अंगिरा, विरूप, वसिष्ठ, जैमिनि, आपस्तम्ब, नारद, वाल्मीकि। यन्त्र विद्या का मूल वेद में है, यह बोधायन के निम्न प्रमाण से ज्ञात होता है–

   निर्मथ्य तद्वेद्वाम्बुधि भरद्वाजो महामुनिः।
   नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्व रूपकम्।।

इस प्रकार आर्यावर्त्त के अतीत कालीन गौरवपूर्ण इतिवृत्त का संकेत–मात्र से दिग्दर्शन कराने के पश्चात् महर्षि दयानन्द ने उसकी वर्तमानकालिक अधोगति के कारणों की मीमांसा की। वस्तुतः महाभारतकालीन युद्ध ही देश के सार्वत्रिक अधः पतन का एक प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। पारस्परिक फूट और कलह ने देश में विनाश के बीज बोये। कौरव–पाण्डवों के गृह कलह में देश में प्रबुद्ध वर्ग के सहस्रों व्यक्ति काम आये। अद्वितीय वीर, अपूर्व मेधा–सम्पन्न ऋषि मारे गये। देश की राजनीति एकता छिन्न–भिन्न हो गई। समाज के नेता, अग्रगन्ता और मुखिया ब्राह्मण विद्याभ्यास को छोड़ बैठे। संस्कृत अध्ययन केवल पुरोहिताई के लिए रह गया। जीविका मात्र के लिये ही कर्मकाण्ड की शिक्षा दी जाने लगी। ब्राह्मण जब गुणहीन, विद्याहीन और नेतृत्व की योग्यता से शून्य हो गये तो उन्होंने अपनी वस्तुस्थिति से अन्य वर्णों के लोगों को अपरिचित रखना ही श्रेयस्कर समझा। ब्राह्मण ही जब कर्त्तव्यच्युत होकर समाज व्यवस्था के सन्तुलन को बिगाड़ने का कारण बने तो क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के अधःपतन की कोई सीमा ही नहीं रही। वर्णव्यवस्था, जो शास्त्रों ने गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर निर्धारित की थी– अब जन्ममात्र से मानी जाने लगी।

धर्म और समाज में व्याप्त यह अधोगति एक दिन की उपज नहीं थी। इस विकृति का आरम्भ महर्षि के अनुसार महाभारत काल से भी एक सहस्र वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो गया। यद्यपि धर्म के व्यवस्थापक ऋषि–मुनियों का उस समय पूर्णतया ह्रास नहीं हुआ किन्तु लोगों में आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणों के बीजों का वपन आरम्भ हो गया था। जब तक समाज में जागरूक उपदेशकों और शिक्षकों की परम्परा स्थिर एवं निर्बाध गति से चलती रहती है, तब तक विघटन, जड़ता एवं अन्धविश्वास के कीटाणु बल नहीं पकड़ते, किन्तु जब दूरदर्शी दृष्टिकोण वाले उपदेशकों और नेतृवर्ग से समाज शून्य हो जाता है तभी अन्ध परम्परायें प्रवर्तित होने लगती है। महाभारत के बाद यही स्थिति आ गई थी। महाभारत की घटनाओं की सूक्ष्म पर्यालोचना करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जहाँ धर्म का तत्त्व जानने वाले भीष्म और द्रोण जैसे

पुरुष भी अधर्म का पक्ष लेते हैं और "अर्थस्य पुरुषो दासः" की दुहाई देते हैं, कर्ण और एकलव्य जैसे मेधावी और पुरुषार्थी व्यक्तियों का जन्मगत जाति के कारण तिरस्कार किया जाता है, धर्मराज कहलाने वाले युधिष्ठिर भी जुआ खेलते हैं और नारी की प्रतिष्ठा को भी दांव पर लगाने में नहीं चूकते, उस समाज का विनाश सुनिश्चित ही था। महाभारत की समाप्ति के पश्चात् देश में सर्वत्र निराशा, अवसाद और भ्रान्ति की आमा निशा छा गई।

सामाजिक दुरावस्था, धर्म–ग्लानि और राजनीतिक अस्थिरता एवं अराजकता ने जिस स्वेच्छाचार और दुराचार को प्रोत्सहित किया उसका अवश्यम्भावी परिणाम आचार–विचार के भयंकर विनाश के रूप में हमारे सामने आया। विषयासक्ति, व्यभिचार और कदाचारों को धर्म के नाम पर प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और वैदिक धर्म के सार्वत्रिक पतन ने वाम मार्ग को जन्म दिया।

1.4. दयानन्द कालीन राष्ट्रिय आन्दोलन :–

शताब्दियों की राजनैतिक पराधीनता ने भारतीयों को दुर्बलता, दरिद्रता,हीनभावना तथा अन्य विकारों से ग्रस्त कर दिया था। राजनैतिक आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक उत्पीड़न एवं आत्म–बोध के अभाव ने भारतीय समाज में जिन कुण्ठाओं को उत्पन्न किया, उनका सहज उन्मूलन सम्भव नहीं था। विदेशी शासन से उत्पन्न पराजय भाव ने भारत के विशाल हिन्दू समाज के धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को अपूरणीय क्षति पहुँचाई[1] एवं पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का तीक्ष्ण प्रहार भारतीय धर्म, संस्कृति एवं समाज पर हो रहा था। जिसके परिणाम–स्वरूप भारत की स्यन्दन जीवनी शक्ति पुनः जागृत और सक्रिय हुई।

---

1. चन्द्रगुप्त वेदालंकार, बृहत्तर भारत, सूर्य कुमारी ग्रन्थमाला–2 के अन्तर्गत गुरुकुल कांगड़ी से 1939 में प्रकाशित।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में भारत की धार्मिक और राष्ट्रवादी चेतना अत्यधिक सुषुप्त हो गई थी। उन्नसवीं सदी में इस चेतना ने करवट बदली, जिसमें मानो मार्ग से भटके हुए भारतवासियों को पुनः सन्मार्ग पर लाने और देश का पुनर्निर्माण करने हेतु भारत में अनेक आन्दोलन चल पड़े जिन्होंने भारत के पुनर्जागरण में उल्लेखनीय योगदान दिया। यूरोप के संघात से उत्पन्न होने वाली परिवर्तनकारी शक्तियों ने जिस बौद्धिक कोलाहल और सांस्कृतिक–सामाजिक पुनर्परीक्षण तथा सुधार की आवश्यकता को जन्म दिया, उसने ब्रह्मसमाज, प्रार्थना–समाज,आर्यसमाज, रामकृष्णमिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी जैसे संगठित सुधार आन्दोलनों को जन्म दिया। राष्ट्रीय पराभव और सामाजिक विकृति की दशा में भारत में ऐसे महापुरुषों का अवतरण हुआ जिन्होंने इस देश में ऐसे प्रगतिशील धार्मिक आन्दोलन संचालित किए जिनसे भारतवासी अपनी त्रुटियों और न्यूनताओं के प्रति सचेत हुए, उन्हें अपनी राष्ट्रीय आत्मा का ज्ञान हुआ और अपना वह स्वर्णिम अतीत याद आया जिसमें इस देश की महान् संस्कृति का गौरव छिपा हुआ है। इन आन्दोलनों के सूत्रधारों ने भारतीय संस्कृति के आदर्शों का उत्कट रूप से प्रचार एवं प्रसार किया और भारतीयों में पुनः उनके प्रति अगाध श्रद्धा जागृत की। भारतीय संस्कृति के महान् आदर्शों को चरितार्थ करने के निमित्त देशवासियों का आह्वान करने में इन महापुरुषों ने व्यापक दृष्टिकोण अपनाया जिसमें न ऊँच–नीच का पक्षपात था और न अवर्ण–सवर्ण का भेदभाव। ये आन्दोलन प्रधानतः मानववादी आन्दोलन थे। इनके विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि जिन आदर्शों के प्रति इन महापुरुषों ने भारतवासियों को सचेत किया वे अधिकांशतः वेदों, उपनिषदों और गीता की शिक्षाओं पर आधारित थे।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में इन आन्दोलनों ने उत्तरोत्तर सुधारवादी स्वरूप धारण किया। धार्मिक क्षेत्र में इन आन्दोलनों के नेताओं ने रूढिवाद, अंधविश्वास, कर्मकाण्ड और पाखण्ड का तीव्र खण्डन किया। अधिकांश नेताओं ने मूर्ति पूजा का

विरोध किया, बहुदेववाद पर प्रहार किया और पुजारीवाद तथा महन्तशाही की आलोचना की।[1]

ब्रह्मसमाज एवं उसके प्रणेता :–

उन्नीसवीं सदी में इस जागृति ने नया रूप धारण किया जिसमें इन आन्दोलनों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। ब्रह्मसमाज इनमें प्रथम और सर्वाधिक शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन था। भारत के प्रति ब्रह्मसमाज का जो योगदान रहा है उसे यदि एक शब्द में कहा जाए तो वह शब्द है–मुक्ति।[2] ब्रह्मसमाज ने अंधविश्वासों, सामाजिक कुरीतियों और धर्म क्षेत्र के अत्यधिक पाखण्डों से बंगाल को "मुक्त" किया जिसके परिणामस्वरूप वहाँ पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि तैयार हुई। भारत के अन्य भागों मे यह लहर बंगाल के बाद फैली जिसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक धर्म–सुधार आन्दोलन चल पड़े।

बंगाल के एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में राममोहनराय का जन्म 1774 ई. में हुआ। बाल्यकाल में इन्होंने फारसी और अरबी भाषाओं का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप ये इस्लाम के एकेश्वरवाद और सूफियों के तसब्बुफ मत की ओर आकृष्ट हुए। युग की मांग के अनुसार यद्यपि राममोहनराय ने अरबी, फारसी के साथ संस्कृत का भी अध्ययन किया। संस्कृत अध्ययन की प्रेरणा इन्हें अपनी माता से मिली जो एक शाक्तमतानुयायी ब्राह्मण परिवार की कन्या थी।[3] राममोहनराय का संस्कृत शिक्षण काशी में हुआ, जहाँ

---

1. जे.एन. फरक्यूहर मांडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इण्डिया, पृ. 22.
2. डॉ0 एफ.सी. साउथवर्थ, "स्टडीज इन दी बेंगाल एनेसों, पृ. 479.
3. According to the usage of my Maternal relations, the thedogical works written in it which contains the body of the Hindu I iterature, I am and religion," Autobiogaphical sketch (English works of Raja Dam Moham Ray P- 222, Pahini office Allahabad)

रहकर लगभग अढ़ाई वर्षों में उन्होंने उपनिषद् वेदान्त, स्मृति, पुराण तथा तन्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन किया।

ब्रह्मसमाज की स्थापना उन्होंने 20 अगस्त 1828 को कलकत्ता नगर के जोडासांको मुहल्ले में की।[1] 1895 तक ब्रह्मसमाज की शाखाओं की संख्या 226 हो गई जो उत्तर पश्चिम में पेशावर से दक्षिण में मद्रास तक और पश्चिम में बम्बई से पूर्व में आसाम तक फैली हुई थी। इस प्रकार यह अखिल भारतीय संस्था बन गई थी।[2] ब्रह्मसमाज के जन्म और उसके विकास का 'आधुनिक भारत'' के जन्म और उसके विकास के साथ धनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है और आधुनिक भारत के निर्माता होने का श्रेय राजा राममोहनराय को दिया जाता है। इन्होंने अपने एक मित्र से किसी गुफा में जाकर जीवन व्यतीत करने की इच्छा व्यक्त की थी।[3] किन्तु भारत की विपन्न स्थिति को देखते हुए इस महामानव ने अपना प्राथमिक कर्त्तव्य भारत के सामाजिक और धार्मिक जीवन का सुधार करना निश्चित किया।[4]

उन्नीसवीं सदी में भारत में जितने आन्दोलन क्रियाशील हुए उनमें सर्वाधिक प्रभावकारी आन्दोलन के रूप में ब्रह्मसमाज सिद्ध हुआ।[5] यह एकेश्वरवादी आन्दोलन था जो बहुदेववाद, अंधविश्वास और मूर्तिपूजा का कट्टर विरोधी था। इसे एक मानववादी और उदारवादी आन्दोलन के रूप में शुरू किया था जिसका लक्ष्य किसी धर्म विशेष का विरोध न करके समस्त धार्मिक आस्थाओं और सम्प्रदायों के मनुष्यों में एकता के बन्धनों

---

1. डॉ0 द्वारका प्रसाद श्री वास्तव, ''भारत के राजनैतिक पुनर्जागरण पर धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव' पृ. 18.
2. पी.ली. मजूमदार, दी फेथ एण्ड प्राग्रेस ऑफ दी ब्रह्मसमाज, पृ. 18.
3. Raja Ram Mohan Roy, His life, writings and speeches, पृ. 11.
4. वही– पृ. 11.
5. जे.एम. फरक्यूहर, ''माडर्न रिलीजस मूवमेंट्स इन इण्डिया'', पृ. 29.

को सुदृढ़ करना था।[1] ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों का पालन करने से हिन्दू रहते हुए हिन्दू एक सच्चा हिन्दू, ईसाई रहते एक इसाई सच्चा ईसाई और मुसलमान रहते हुए एक मुसलमान सच्चा मुसलमान बन जाएगा यह राममोहनराय का दावा था।

ब्रह्मसमाज के सदस्यों ने जिस प्रार्थना–भवन का निर्माण किया वह सम्भवतः ईसाइयत की चर्च–प्रार्थना पद्धति का प्रभाव था। इस भवन में की जाने वाली पूजा में उन्ही प्रार्थनाओं, उपदेशों, व्याख्यानों, मन्त्रों और ऋचाओं का प्रयोग होगा जिनसे सृष्टि के स्रष्टा तथा पोषक का चिन्तन बढ़े तथा जिनसे दान, नैतिकता, दया, उदारता तथा सद्गणों के विकास को प्रोत्साहन मिले और जिनसे विभिन्न मजहबों तथा पन्थों के मनुष्यों में एकता सदृढ़ हो।[2] ब्रह्मसमाज की साप्ताहिक बैठके प्रत्येक शनिवार की संध्या को सात से नौ के बीच में हुआ करती थी। ब्रह्मसमाज का मूलाधार मानवतावाद था। ब्रह्मसमाज के सिद्धान्त और पूजा– अनुष्ठानों में राष्ट्रवादिता, परम्परागत ब्राह्मणवादिता, ईसाइयत के तत्कालीन प्रमाणों और मानवतावादी सुयुक्तिवाद Humanistic Rationalism का अपूर्व सम्मिश्रण था।[3] हिन्दुत्व, राष्ट्रवादिता तथा मानवतावाद के सम्मिश्रण का प्रयास यूरोप के संघात से उत्पन्न होने वाले सामाजिक नवजागरण का प्रेरक रहा है, जिसका शुभारम्भ राजा राममोहन राय के द्वारा होता है।

1833 ई. में इंग्लैण्ड के ब्रिस्टल नगर में राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्मसमाज के द्वारा चलाए गए धार्मिक सामाजिक आन्दोलन में एक नया दौर प्रारम्भ हुआ।

ब्रह्मसमाज को शक्तिशाली नेता देवेन्द्रनाथ ठाकुर 1897–1905 के रूप में प्राप्त हुआ जो राममोहन राय के मित्र प्रिंस द्वारकानाथ ठाकुर के पुत्र थे।[4] देवेन्द्रनाथ ठाकुर

---

1. ब्रह्मसमाज के न्यासपत्र, उद्धृत, "दी कल्चरल हैरीटेज ऑफ इण्डिया, पृ. 624–625.
2. व्यास के.सी. सोशल रिनासां इन इण्डिया, पृ. 11.
3. वही, पृ. 17.
4. जे.एम. फरक्यूहर, "मार्डन रिलीजस मूवमेंट्स इन इण्डिया", पृ. 44.

ने ब्रह्मसमाज को नए सिरे संगठित किया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज को एक नया संगठन ही नहीं मिला अपितु उसके सिद्धान्तों को एक नई दिशा भी मिली। धार्मिक सुयुक्तिकरण तथा धार्मिक एकता के जिन सिद्धान्तों की नींव राजा राममोहन राय ने रखी थी, उन्हें देवेन्द्रनाथ ने एक व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज के अनेकों सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जैसे– वेद ईश्वरोक्त नहीं है। वेदों तथा उनमें निहित सत्य का केवल एक ऐतिहासिक महत्त्व है इत्यादि।[1] देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने मूर्तिपूजा का विरोध किया, परन्तु हिन्दूत्व के आधारभूत सिद्धान्तों का परित्याग नहीं किया। इनके नेतृत्व में, ब्रह्मसमाज एक ओर हिन्दूत्व की धार्मिक–सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में लगा और हिन्दुत्व को ईसाई प्रभावों से मुक्त कराने में।

प्रार्थनासमाज एवं उसके प्रणेता :–

देवेन्द्रनाथ के जीवनकाल में ही ब्रह्मसमाज का आचार्य पद "ब्रह्मानन्द" पदवी धारी केशवचन्द्र सेन 19 नवम्बर 1838– 8 जनवरी 1884 को मिला। 1857 में उन्नीस वर्ष की अवस्था में केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्मसमाज में प्रवेश किया। उन्होंने 1855 में 'कालूटोला इवनिंग स्कूल" कालूटोला संध्या पाठशाला और 1857 में "गुडविल फेटरनिटी" सद्भावना बन्धु मण्डल जैसी संस्थाओं की स्थापना की थी।[2] इन्होंने ब्रह्मसमाज में नए जीवन का संचार किया। केशव के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज के नवयुवक अनुयायी ऐसी प्रवृत्तियां लेकर अग्रसर होने लगे जिनसे भारत के पुनर्जागरण को गति प्राप्त हुई। ब्रह्मसमाज के अनुयायियों के लिए अपने दैनिक जीवन के व्यवहार में केशव ऐसे सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने पर बल देते थे, जैसे जाति का परित्याग करना, जाति अथवा मूर्तिपूजा का कोई चिन्ह या छाप अपने शरीर पर धारण न करना, जनेऊ

---

1. भारतीय नवजागरण प्रणेता तथा आन्दोलन, पृ. 54.
2. भारत के राजनैतिक पुनर्जागरण पर धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव, पृ. 44.

धारण न करना जिससे कुछ व्यक्ति दूसरों से श्रेष्ठ कहलाते हैं, नशीली वस्तुओं का प्रयोग न करना आदि। केशव के कार्यों का एक उल्लेखनीय परिणाम यह भी हुआ कि अनेक हिन्दू ईसाई बनने से बच गए।[1]

केशवचन्द्र सेन के प्रगतिशील कार्यों से ब्रह्म–समाज में विवाद उत्पन्न होने लगा। अन्तर्जातीय विवाह, विधवा–विवाह आदि ब्रह्मसमाज के वयोवृद्ध वर्ग को अभिमत नहीं थे। परिणामतः ब्रह्मसमाज के दो विरोधी दल तैयार हो गए एक देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में वयोवृद्धों का परम्परावादी वर्ग व दूसरा केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में नवयुवकों का उग्रवादी वर्ग। केशवचन्द्र ने 11 नवम्बर 1866 को "भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज" की स्थापना की।[2] किन्तु केशवचन्द्र सेन के ब्रह्मसमाज ने शीघ्र ही अखिल भारतीय रूप धारण कर लिया और उसने भारत के बाद के धार्मिक आन्दोलनों तथा सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों को प्रभावित किया।[3]

ब्रह्मसमाज में परमात्मा की उपासना के निमित्त केशवचन्द्र ने हिन्दुओं के उपनिषदों के साथ ईसाइयों की बाइबल, यहूदियों के जेद अवस्था और मुसलमानों के कुरान से मूल सूत्र संकलित करके "श्लोक संग्रह" की रचना की।[4] केशव का यह विचार था कि समाज–सुधार धर्म–सुधार पर आधारित होना चाहिए, सामाजिक व धार्मिक प्रथाओं मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों के अनुरूप ही 1867 ई. में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। केशव की बम्बई यात्रा ने महाराष्ट्रवासियों में नवीन प्रेरणा तथा जागृति के भाव उत्पन्न किए थे। इन्होंने भी मूर्ति–पूजा का विरोध

---

1. Pratap Chander Majumdar. The Life and teachings of Keshat Chander sen. P. 152-
2. वही– पृ. 46.
3. मनीलाल पारीख, "ब्रह्मषि केशवचन्द्र सेन" पृ. 35–36.
4. वही पृ. 110.

किया। जातिवाद को प्रार्थना समाजियों ने पूर्णतः अस्वीकार भी नहीं किया था।[1]

धर्म–सुधार के कार्य में प्रार्थना समाज ने लगभग ब्रह्मसमाज का अनुकरण किया। किसी नए साहित्य की इसने रचना नहीं की। तथापि बहुदेववाद के स्थान पर एक ईश्वर की उपासना के सिद्धान्त को अपना कर प्रार्थना–समाज ने अन्धविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया।

ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज आन्दोलनों के साथ भारत के नवजागरण का एक अध्याय समाप्त होता है। इन दोनों नेताओं का पाश्चात्य संस्कृति व ईसाइयत के प्रति झुकाव था। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द ने पाश्चात्य संस्कृति व ईसाइयत का विरोध कर भारतीय संस्कृति व धर्म के आदर्शों को पुनः प्रतिष्ठापित किया। आर्य–समाज से भारतीय नव–जागरण का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है।

आर्यसमाज एवं उसके प्रणेता :–

आर्यसमाज की स्थापना महर्षि दयानन्द ने 10 अप्रैल 1975 में बम्बई में की महर्षि ने ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों तथा कार्यों को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया। उन्होंने ब्रह्मसमाज तथा बम्बई की शाखा प्रार्थना समाज के बारे में सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि इनमें "कुछ–कुछ बातें अच्छी हैं और बहुत सी बुरी"। परन्तु इनमें स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। ईसाईयों के आचरण बहुत से लिए हैं।[2] दयानन्द द्वारा की गई ब्रह्मसमाज की आलोचना से स्पष्ट है कि महर्षि उस समाज–सुधार तथा पुर्नसंगठन के समर्थक थे जो ईसाई, इस्लामी और यूरोपीय परम्पराओं पर आधारित न होकर भारतीय परम्पराओं पर आधारित हो। दयानन्द के मतानुसार किसी भी मत या मजहब में इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य, पुरुषार्थ, सत्संग, सत्य–व्यवहार ग्राह्य हैं तथा व्यभिचार, कुसंग, आलस्य, असत्यव्यवहार, छल, कपट, हिंसा और

---

1. Charies H- Heimsath : Indian Nationalism and Hindu Social Reform, P- 108-
2. स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास,।

पर–हानि त्याज्य हैं जो सबके लिए ग्राह्य हैं वही आर्यधर्म अर्थात् श्रेष्ठ धर्म हैं। धर्म–सुधारक के रूप में महर्षि ने मूर्तिपूजा कर्मकाण्ड, पुराणों और तन्त्रों का घोर विरोध किया।[1] राष्ट्र को सुमार्ग पर ले जाने के लिए लाहौर में 24 जून 1877 को आर्यसमाज की स्थापना के समय महर्षि ने 10 निमय निर्धारित किए। आर्यसमाज का जन्म एक ऐसे आन्दोलन के रूप में हुआ, जिसमें एक ओर इस्लाम, ईसाइयत और सनातन कहे जाने वाले हिन्दुत्व का खण्डन किया गया, और दूसरी ओर उन सुधारों को कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया जिसकी प्रेरणा दयानन्द ने दी थी।

महर्षि का कहना था कि कुरान और बाईबल नहीं अपितु वेद ही ज्ञान के भण्डार हैं।[2] ब्रह्मसमाज आन्दोलन हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म के समान आदर्शों को खोजने का प्रयत्न करता था, परन्तु आर्यसमाज ने इस बात पर जोर दिया कि केवल वेद ज्ञान ही सत्य के भण्डार हैं। आर्यसमाज आन्दोलन का शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। ब्रह्मसमाज के उदय के साथ–साथ भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नींव पड़ी थी। ऐसी स्थिति में दयानन्द ने संस्कृत भाषा तथा वेदों की शिक्षा के द्वारा प्राचीन गुरुकुल परम्परा को स्थापित कर लड़के व लड़कियों के लिए अलग–अलग गुरुकुलों की स्थापना की। यहाँ वेदाध्ययन, संध्या और हवन पर बल दिया जाता था। फलतः आर्यसमाज के तत्त्वावधान में एंग्लोवैदिक शिक्षा परम्परा आरम्भ हुई।

आर्यसमाज–सुधार आन्दोलन का भारतीय समाज विशेषतः हिन्दू–समाज और संस्कृति पर सर्वतोमुखी प्रभाव पड़ा। शिक्षा, नारी, प्रतिष्ठा, विवाह जाति–प्रथा, संस्कार, अनुष्ठान. परम्पराओं तथा प्रथाओं सभी पर आर्यसमाज सुधार आन्दोलन का प्रभाव पड़ा।[3] जिस समय दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना कर देश में नवयुग का

---

1. सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में इस प्रसंग का विवेचन किया गया है।
2. "सत्यार्थप्रकाश" सप्तमसमुल्लास, 190–191.
3. व्यास के.सी. सोशल रिनासां इन इण्डिया, पृ. 85.

सूत्रपात किया, उस समय ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थना समाज का यौवन काल ही था। परन्तु महर्षि के इन आन्दोलनों का राष्ट्र पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि जन--जन में नई जागृति आई।

रामकृष्ण मिशन एवं उसके प्रणेता :–

दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज के परवर्ती धार्मिक आन्दोलनों में रामकृष्ण मिशन तथा उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द के कार्य उल्लेखनीय हैं। भारतीय पुनर्जागरण के मंच पर रामकृष्ण परमहंस भारत के साधु सन्तों की परम्परा में एक भक्त साधक के रूप में आए थे। वे सुधार नहीं क्रान्ति के पक्ष में थे। रामकृष्ण मिशन के आन्दोलन जिस का संचालन स्वामी रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने आगे किया– एक उदारवादी आन्दोलन था। इसने आर्यसमाज की भाँति इस्लाम और ईसाई धर्मों की आलोचना नहीं की और न ही कोई साम्प्रदायिक कटुता उत्पन्न की।[1] वे उदारवादी और विश्ववादी महापुरुष थे। अतः स्वामी जी की प्रेरणा से कुछ प्रस्ताव स्वीकृत किए गए। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज भारतीयों तक ही सीमित रहे किन्तु रामकृष्ण मिशन के विदेशों में भी केन्द्र हुए। विवेकानन्द ने हर क्षेत्र में राष्ट्र को जगाया।

निष्कर्षतः आधुनिक भारत के इतिहास में नवजागरण युग का विशेष महत्त्व है। विगत शताब्दी में यूरोप एवं अन्य पश्चिमी देशों में अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक कारणों से जिस जागृति का सूत्रपात हुआ था उसका प्रभाव भारत के जनजीवन पर भी पड़ा। पश्चिमी शिक्षा के प्रचार में भारतवासियों को प्रगतिशील मूल्यों से परिचित करवाया एवं साथ ही इस युग में भारत भूमि पर जो धार्मिक, सांस्कृतिक आन्दोलन उत्पन्न हुए, उनके कारण देशवासियों ने भारत के उस अतीत का भी मूल्यांकन किया

---

1. The Compete works of Swami Vivekananda Vol. III, P 221.

जिससे वे कुछ ग्रहणशील एवं उपयोगी बातों को भी स्वीकार कर सकते थे। अतः पुनर्जागरण का यह काल पुरातन और नवीन, अतीत और वर्तमान, विश्वास और बुद्धिवाद, धर्म और विज्ञान के समन्वय का काल कहा जा सकता है। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज जैसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन इसी युग में स्थापित हुए जिन्होंने देश के सर्वांगीण विकास में अपना योगदान दिया।

———

द्वितीय अध्याय

संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्व

2.1. राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ।

2.2. वेद प्रतिपादित राष्ट्र–तत्त्व।

2.3. ब्राह्मण, उपनिषद् एवं आरण्यकों में राष्ट्र।

2.4. रामायण एवं महाभारत कालिक राष्ट्र शब्द की अवधारणा।

2.5. धर्मशास्त्र में राष्ट्रीय चिन्तन।

2.1. राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ।

'राष्ट्र' शब्द की सिद्धि 'राजत् इति' राज्+ "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" इस उणादि सूत्र से ष्ट्रन" प्रत्यय करके होती है।[1] यह शब्द "सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्" उक्त सूत्र के संयोग से इस प्रकार रासृ शब्दे अथवो राजृ शोभने धातु से बनता है। जिसका प्रयोग देश अर्थ में देखा जाता है तथा इस राष्ट्र शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार इस प्रकार किया जा सकता है– "रासन्ते चारुशब्दं कुर्वते जनः यास्मिन् प्रदेशविशेषे तद् राष्ट्रम्" अर्थात् एक विशिष्ट भाषा के द्वारा किसी भी प्रदेश के लोग जहाँ विचार–विनिमय करते हों, वही स्थान–विशेष राष्ट्र है। अथवा "पशुधान्यहिरण्य संपदो राजन्ते शोभन्ते इति राष्ट्रम्" अर्थात् पशु–धान्य हिरण्य संपद राजते शोभते इति राष्ट्रम्" अर्थात् पशु–धान्य आदि सम्प्रदायों से सुशोभित भू–भाग ही राष्ट्र है। महर्षि मनु ने भी देश अर्थ में ही राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है।

"यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति।।[2]

एतरेय ब्राह्मण में प्रजा को ही राष्ट्र की संज्ञा दी गई है–

"तस्मै विशः स्वयमेवाऽऽनमन्त इति राष्ट्रीणि।
वै विशो राष्ट्राण्येवैनं तत्स्वयमुपनमन्ति।।।[3]

शतपथब्राह्मण में भी राष्ट्र शब्द की व्याख्या इस रूप में देखी जाती है :–

---

1. सिद्धान्तकौमुदी, उणादि गण, 4.158.
2. मनुस्मृति, 10.61.
3. एतरेयब्राह्मण, अ.40., खण्ड 3.26.

"श्रीर्वैराष्ट्रम्"[1] अर्थात् समृद्धि युक्त ओजस्वी जनसमूह ही राष्ट्र है। भाषा, भूमि, जन–समुदाय आदि पर बल देते हुए विभिन्न अर्थों में इस प्रकार राष्ट्र शब्द का प्रयोग देखा गया है। परन्तु वास्तव में ये सभी तो राष्ट्र के ही अंग है। इस लिए राष्ट्र शब्द देश वाचक ही सिद्ध हुआ और उसमें होने वाले जो भी हैं, वे राष्ट्रीय कहलाते हैं। यथा–"राष्ट्रेभव्" इस अर्थ में "तत्र भवः" इस सूत्र से छः प्रत्यय करने पर राष्ट्रीय शब्द सिद्ध होता है। महाभारत में तत्–तद्देशवासियों को राष्ट्रीय शब्द से कहा गया है–

"धान्यं हिरण्यं भोगेन भोक्तुं राष्ट्रीय संगतः"[2] अतः राष्ट्र शब्द समाज, जाति एवं राज्य सबके लिए ही व्यापक रूप में प्रयुक्त देखा जाता है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार यह राष्ट्र शब्द जो आंग्ल भाषा के "Nation" शब्द का पर्यायवाची है, अतः यह अपना एक विशेष महत्त्व रखता है।

"राष्ट्र" शब्द ऋग्वेद (4.42.1.) 'मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य' अर्थात् 'मेरा राष्ट्र दोनों ओर या दोनों गोलकों में है' ऋत्सदस्यु ने ऐसा कहा है– में भी आया है। राष्ट्रों का स्वामी राजा राष्ट्रणाम्...(ऋ.7.34.11) वरुण को कहा गया है।[3] यजुर्वेद का दशम अध्याय इस दृष्टि से उल्लेख करता है। राज्यभिषेक के अवसर पर बोले जाने वाले मन्त्रों में राजा द्वारा "राष्ट्रमे देहि"[4] उच्चारण करा–कर राष्ट्र–प्राप्ति की उत्कट लालसा को प्रदर्शित किया गया है। इन्द्र ने जिससे विजय प्राप्त की थी,[5] अथर्ववेद में राजा राष्ट्र के वर्धन हेतु पुरोहित से उस मणि के बाँधने की प्रार्थना करता है।

---

1. शतपथ ब्राह्मण, 6.7.3.7.
2. महाभारत, 12.87.9.
3. पी.वी.काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–2.
4. यजुर्वेद, 10.1.
5. अभिवर्तेन मणिना येनन्द्रों, अभिधावृधे।
   तनास्मान ब्रह्मणस्पेऽभि राष्ट्राय वर्धय। अथर्ववेद,1.29.1.

राष्ट्र शब्द आज अंग्रेजी नेशन (Nation) के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया जाता हैं गिलक्राइस्ट ने माना है कि 'नेशन' की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द 'नेटस' से हुई है जिसका अर्थ 'जन्मा' अथवा 'उत्पन्न हुआ है।[1] वर्गस ने अंग्रेजी शब्द नेचर (Nature) को राष्ट्रवाद का मूल कहा है। उनके विचार में मानव–मन निसर्गतः ही समूह निर्माण में प्रवृत्त होता है और उसी का सहज विकास, कालान्तर में, राष्ट्र के रूप में प्रतिफलित हुआ।[2]

हिन्दी–साहित्य–जगत् में प्रसिद्ध 'बृहत् हिन्दी–कोश' में 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ देश, राज्य और जाति किया गया है।[3] एवं 'मानक हिन्दी कोश' में राज्य, देश, किसी निश्चित और विशिष्ट क्षेत्र में रहने वाले जनसमूह जिनकी एक भाषा, एक ही रीति–रिवाज तथा एक सी विचारधारा होती है' तथा 'किसी एक शासन में रहने वाले सब लोगों का समूह' किया गया है।[4]

आधनिक कवियों में श्री मदमृतवाग्भवाचार्य ने राष्ट्र शब्द की परिभाषा इस प्रकार की है कि समान आचार और संस्कृति वाले लोगों की जहाँ तक पुण्यमयी जन्मभूमि है, वहाँ तक की भूमि एक राष्ट्र के नाम से कही जाती है :–

समान संस्कृतिमतां यावती पितृपुण्यभूः।
तावतीं भुवमावृत्य राष्ट्रमेकं निगद्यते।।[5]

---

1. Gilchrist, R.N. : Principals of Political Sciece, P-24-
2. Borgese, G.Ant : Encyclopedia of the Social Science, P-32-
3. बृहत् हिन्दी–कोष, पृ. 1152.
4. मानक हिन्दी–कोश, पृ. 505.
5. राष्ट्रालोक :– श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य, पृ. 93.

कवि लक्ष्मी नारायण शुक्ल लिखते हैं कि पारस्परिक उन्नति हेतु जगत् के किसी एक भू–भाग में रहने वाले व्यक्ति सहयोग और संहति से एकता के सूत्र में बंधे हुए समुन्नति के लिए संतुष्ट रूप से अग्रसर होते हैं, उन्हें राष्ट्र कहते हैं, वृक्षों के समूह को जिस प्रकार वन कहते हैं। सुन्दर और सुदृढ़ संस्कृति ही राष्ट्र की जड़ है, जड़ के विना राष्ट्र की स्थिति सन्देहात्मक होती है :–

एकास्मिन्जगतीखण्डे समवेताः समृद्धये।
सहयोगेन संहत्या पारस्परिकवृद्धये।।
व्यक्त्यः खलु वर्धन्ते संतृप्ता स्तत्र संस्थिताः।
राष्ट्र– संज्ञा भवेत्तासां पादपानां यथा वनम्।।
राष्ट्रे व्यक्तिस्तथा व्यक्तौ राष्ट्रं सन्निहितं खलु।
व्यक्ति–चिन्ता नु राष्ट्रेण व्यक्त्याऽपिराष्ट्र–चिन्तनम्।।
मूलं राष्ट्रस्य विज्ञेयं संस्कृतिः सुदृढ़ा शुभा।
विना मूलेन राष्ट्रस्य संस्थितिः संशयात्मिका।।[1]

अतः राष्ट्र शब्द का प्रयोग आधुनिक कवियों की दृष्टि में भी देश, जनसमूह, समाज वर्ग आदि के अर्थ में ही प्रयुक्त मिलता है एवं इसका मानव जीवन में भी अत्यधिक महत्व है।

2.2. वेद प्रतिपादित राष्ट्र–तत्त्व –

राष्ट्र का स्वरूप भूमि, भूमि पर बसने वाले जन और उनकी संस्कृति– इन तीनों के सम्मिलन से बनता है। राष्ट्र एक अत्यन्त पवित्र, कोमल, कान्त तथा सांस्कृतिक चेतनाओं से सम्पन्न एकत्व की भावना का नाम है। उसके प्रति श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, और विनती का भाव ही वास्तव में राष्ट्रीयता है।

---

1. लक्ष्मी नारायण शुक्ल, राष्ट्रतन्त्रम्, मूलाध्याय, 11–14.

वेद में राष्ट्र शब्द 'राजते तत् राष्ट्रं'[1] अर्थात् जो चमकता है, वही राष्ट्र कहलाने का अधिकारी है, आदि अर्थ का बोधक माना जाता है। स्वार्जित यश से दीप्तिमान् जो समाजवर्ग भूमण्डल के अन्य जनों को अपनी ओर आकर्षित कर सके वैदिक दृष्टि से वही राष्ट्र कहा जा सकता है। वेद में 'राष्ट्र' शब्द केवल देश अथवा जन–समुदाय का वाचक नहीं है, तथा न ही एक ही भूभाग पर बसने वाले मानव समाज का बोध वेद में 'राष्ट्र' शब्द से होता है। ऐसे स्वरूप धारण करने वाले राष्ट्र तो भूभाग पर अनेकों मिलेंगे, परन्तु वेद जिसे राष्ट्र का रूप मानता है, वैसे राष्ट्र बहुत कम ही होंगे। इसके अतिरिक्त वेद में अपने आपको राष्ट्र कहलाने वाले देश राष्ट्र नहीं कहे जा सकते। अपने द्वारा कमाये यश से चमकने वाला राष्ट्र विस्तार की दृष्टि से बड़ा हो चाहे छोटा हो, उसे राष्ट्र ही कहा जायेगा। यश की दृष्टि से जिसमें दीप्ति (चमक) न हो, विस्तार की दृष्टि से उसमें चाहे कितनी भी प्रचण्ड चमक क्यों न हो, वह राष्ट्र नहीं माना जा सकता। वैदिक धर्मानुयायियों को यातनाए सहन करते हुए भी अपनी कर्मठता से अपने राष्ट्र में इस प्रकार का ओज (तेज) पैदा करना अपेक्षित है, क्योंकि इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ वह देश वैदिक रीति से राष्ट्र की संज्ञा को प्राप्त होता है।

वैदिक वाङ्मय में पारस्परिक सम्बन्धों वाले राष्ट्रवर्द्धन विषयक अनेकों सूक्त देखने को मिलते हैं। वस्तुतः राष्ट्र शब्द की चर्चा प्राचीन काल से ही होती चली आ रही है तथा इसका आरम्भिक प्रयोग भी विश्व के प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय में ही हुआ है– 'वयं राष्ट्रे जागृयाम राष्ट्र'[2] पद की पुनरूक्ति इस प्राचीन वाङ्मय में हुई है तथा अनेकों बार 'राष्ट्रदारथ'[3] तथा 'राष्ट्रग्मे दत्त स्वाहा'[4] आदि पुकार कर राष्ट्रप्राप्ति की कामना प्रदर्शित की गई है। इसके साथ ही यह निश्चय करना कि वेद में राष्ट्र शब्द

---

1. डॉ0 सिद्धेश्वर वर्मा, दि एटिमॉलौजी ऑफ यास्क, पृ. 14.
2. माध्यंदिनसंहिता 9.23. चतुर्थ चरण।
3. तै.सं. 1.8.11.1.
4. माध्यंदिनसंहिता 10.3.

का प्रयोग उतने ही विशाल भारत के लिए किया है, जितना यह वर्तमान समय में है, कठिन होगा। वेद में विराड्, वैराज्य एवं राष्ट्रिक आदि शब्द भी राष्ट्र के साथ अनुस्यूत मिलते हैं। हमें सर्वप्रथम वेदों में ही राष्ट्र को, अपनी धरती को अर्थात् अपनी जन्मभूमि को माता मानने की भावना उपलब्ध होती है।[1] इसी प्रकार वेदों से ही जन्मभूमि को अपनी मातृभूमि कहकर सम्बोधित करने की शिक्षा भी मिलती है।[2]

वैदिक ऋषियों ने अपनी मातृभूमि को जिसका तेज और बल से परिपूर्ण श्रेष्ठ राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित किया है[3] वे उसे सदैव सर्वश्रेष्ठ बनाए रखना चाहते रहे हैं। राष्ट्रनायक को वेद में पाँचजन्य कहा है,[4] जिसका भाव है– समाज के पाँचों प्रकार के

---

1. तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः।
   तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्।।
   ऋग्वेद, 1.89.4, द्रष्टव्य 1.164.33, 1.191.6.
   यजुर्वेद, 2.10. अथर्ववेद, 12.1.15., 12.1.63.

2. इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमिवां शचीपतिः।
   सा नो भूमिविसृजतां माता पुत्राय मे पयः।।
   अथर्ववेद, 12.1.10.

3. यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां माया भिरन्वचरन् मनीषिणः।
   यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृत्तममृतं पृथिव्याः।
   सा नो भूमिरित्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे।।
   अथर्ववेद, 12.1.8.

4. (क) स वज्रभृछस्युहा भीम उग्रसहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा।
   चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो नरुत्वान्नो भवन्विन्द्र ऊती।।
   ऋग्वेद, 1.100.12.

   (ख) अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।
   विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः।।
   अथर्ववेद, 4.23.1.

जनों का अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद् आदि जनों का हित चाहने वाला है। राष्ट्रनायक से यह भी आशा की गई है कि वह विना संकोच के ब्राह्मणादि पाँचों ही प्रकार के जनों के घरों में जाया करे[1] जिससे आपसी प्रेम में वृद्धि हो एवं राष्ट्र में यश फैले।

वेदों में राज्य एवं साम्राज्य के लिए कई स्थानों पर 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग मिलता है। एक स्थल में पुरोहित राजा को राष्ट्र की समृद्धि के लिए आशीर्वाद देता हुआ कहता है कि 'मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत',[2] इस प्रकार की स्तुति इससे अन्यत्र भी की गई है, यथा–

(क) तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय।।

(ख) राष्ट्राय मह्यम् वध्यतां..... इत्यादि।।[3]

राष्ट्र की प्राप्ति भी देवों की कृपा पर आधारित थी। रोहित से राष्ट्र प्राप्ति की कामना निम्न मन्त्र में की गई है–

'ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम्।
तेष्टै रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः।।[4]

पृथिवी माता का इसी प्रकार राष्ट्र के प्रति ओज (तेज) एवं पराक्रम का धारण करना दर्शाया गया है, यथा–

---

1. यः पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे।
कविर्गृहयतियुवा।।
ऋग्वेद, 7.15.2.
2. अथर्ववेद, 6.87.1.
3. वही, 1.29.1.
4. वही, 13.1.35.

'सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे'।[1]

एक अन्य स्थल पर भी परीक्षित का राष्ट्र सर्वजनहित लिया है, यथा–

'जनः स भद्रमेधते राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः'।[2]

यहाँ ध्यातव्य है कि राष्ट्र और राजा को वेद में समानार्थक कहा गया है। इन दोनों का अटूट सम्बन्ध है। समुद्र में नदियों का जल जिस प्रकार एक रूप हो जाता है, उसी प्रकार राजा भी सभी वर्णों में एक–रूपता प्रदान करता है, यथा–

'राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमरमैक्षत्रं विश्वायु'।[3]

प्रारम्भ में अराजकता की स्थिति में देवों और असुरों के युद्ध में हारे देवों ने अपनी पराजय का कारण अराजकता को स्वीकार कर राजा का होना अनिवार्य माना है, यथा–

''राजानं करवामहा इति''।[4]

अर्थात अवस्था का नाम ही राष्ट्र है एवं उस अवस्था की भावना ही राष्ट्रीयता है तथा देश राष्ट्र के बसने का आश्रय है। यह राष्ट्र रक्त–सम्बन्ध पर आश्रित है, यथा–

''गृहमेधी गृहपतिर्भवति'' प्रारम्भ में समूचे कुल का स्वामी परिवार का मुखिया बना दिया। राज्य एवं राष्ट्र का आरम्भिक बिन्दु (केन्द्र) यह कुटम्ब ही था।

राष्ट्र के स्वरूप में साधारण नियम का स्वीकार करना कठिन है अपितु इतना मानना पड़ेगा कि मानव में अलग–अलग तत्त्वों के मिश्रण से एकता का होना स्वाभाविक

---

1. अथर्ववेद 12.1.8.
2. वही, 20.127.10.
3. ऋग्वेद, 7.34.11.
4. ऐतरेय सं. 1.14.

है और उससे राष्ट्रीयता भी आ जाती है।

संक्षेपतः राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप प्रदेश, देश एवं राष्ट्र के सदस्यों में आत्मीयता एवं साहचर्य का होना ही है। अतः कहा जा सकता है कि राष्ट्र शब्द कोई नवीन शब्द नहीं, अपितु प्रारम्भ से ही भारत का जन–जन इससे परिचित था।

2.3. ब्राह्मण, उपनिषद् एवं आरण्यकों में राष्ट्र :–

वेदों के पश्चात् वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान आता है। ब्राह्मण युग में ही राष्ट्रों, जनराष्ट्रों या जनपदों के पारस्परिक संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुआ। प्रारम्भ में एक प्रकार का शासन इन सब में विद्यमान नहीं था, धीरे–धीरे अनेक प्रकार की शासन प्रणालियाँ भारत के जनपदों में आरम्भ हुई।

शांखायन ब्राह्मण :– ब्राह्मण काल में राष्ट्र की परिकल्पना का अस्तित्व विद्यमान् था। राष्ट्र व्यवस्था के साथ–साथ इस समय में कबीलायी जीवन के भी दर्शन होते हैं क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में एक ग्राम का वर्णन है जो अपने नेता 'शयति–मानव' के साथ घूमता रहता था।[1] यदु, पुरु, दुहयु आदि जन पूर्ण वैदिक काल में निश्चित ही भू–प्रदेश के बिना भ्रमणशील कबीलों के रूप में घूमा करते थे।[2] संभव है कि सभ्यता के विकास चरण के साथ–साथ ये कबीले राष्ट्रों का आकार धारण कर रहे थे।

एतरेय ब्राह्मण के समय में स्थायी राज्यों का उदय हो चुका था। जनमेजय,[3] सुदास[4] आदि राजाओं का यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है। सौदास नामक राजा के राष्ट्र में तो विश्वामित्र अथवा वशिष्ठ जैसे पुरोहित भी विद्यमान थे।[5] इस समय प्रचलित राजसूय–

---

1. शयति ह वा इदं मानवो ग्रामेण चचार। शत.ब्रा. 4.1.5.2.
2. डॉ0 विजय बहादुर राव, उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ. 162.
3. एतरेय ब्रा 35.1.
4. वही, 39.7.
5. वैदिक इण्डेक्स भाग–2 हिन्दी, पृ. 308–309. देखिए वशिष्ठ शब्द।

यज्ञ, वाजपेय–यज्ञ, अश्वमेध–यज्ञ आदि धार्मिक कर्म–काण्डों से भी ज्ञात होता है कि इस समय राष्ट्रों का उदय हो चुका था। इसके साथ ही इस आलोच्य ब्राह्मण में प्राप्त राजन[1] सम्राट्[2] महाराज,[3] गृहयति[4] आदि शब्द भी इन राज्य संस्थाओं की ओर संकेत करते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण तथा शांखायन ब्राह्मण में राष्ट्र (राज्य) पद्धतियों का उल्लेख हुआ है। इसी राष्ट्र को शतपथ ब्राह्मण में अपरिमित समृद्धि से युक्त कहा गया है।[5]

शतपथब्राह्मण में 'सांनाय्य' को राष्ट्र कहा गया है, जो जानता है कि सांनाय्य राष्ट्र है, वह राष्ट्र को पा लेता है और जो कुछ राष्ट्र द्वारा विजित हो सकता है उस सबको जीत लेता है। कुछ लोग इस लिये सांनायय (दही तथा दूध) को एक साथ ड़ालते हैं कुछ नहीं। इस प्रकार कभी तो राष्ट्र मिल जाते है और कभी अलग–अलग रहते हैं।[6]

चौकी राष्ट्र है। राष्ट्र की समृद्धि अपरिमित होती है। चौकी मूंज से बिनी होती है। मूंज यज्ञ के योग्य है। यह चौकी उदुम्बर की बनी होती है। उदुम्बर एक प्रकार की शक्ति है जिसके द्वारा आसन्दी (चौकी) का अभिषेक करते हैं क्योंकि इस चौकी पर सम्राट् बैठता है जो इस राष्ट्र को चलाता है। इसमें अश्वमेध को राष्ट्र कहा है।[7] आठ प्रकार की शासन प्रणालियों का ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका में विवरण दिया गया

---

1. ऐतरेय ब्रा. 27.6.
2. वही, 38.3.
3. वही, 5.5.
4. कौ. ब्रा. 2.2, 3.7, ऐतरेय ब्रा. 3.5.
5. अपरिमित समृद्धम् वै राष्ट्रम्। शत.क्र. 12.8.3.6.
6. वही, 11.2.7.27., पृ. 1485.
7. वही, 12.8.3.4–6, 13.1.6.3., पृ. 1656, 1690.

है।[1] जो कि निम्नलिखित प्रकार से है :–

1. साम्राज्य :–

आधुनिक युग की भांति लूटने और नष्ट–भ्रष्ट करने से यह प्रणाली भिन्न थी। अपना संविधान लागू करने के लिए आर्य लोग अत्याचारी पुरुषों को पराजित कर योग्यतम पुरुष को राष्ट्र प्रदान कर उसे माण्डलिक बना देते थे उनका साम्राज्य के लिए अभिषेक होता था और वे सम्राट् कहलाते थे। श्री रामचन्द्र लंका के अत्याचारी राजा रावण को मारकर विभीषण को माण्डलिक राजा बनाकर और वहाँ आर्य संविधान लागू करके अयोध्या लौट आये थे।

2. भौज्य :–

यह प्राकृतिक सीमावाला राष्ट्र (राज्य) होता है। भौज्य में यह नियम होता था कि प्राकृतिक सीमाओं में बंधे हुए राष्ट्र के ऊपर ही शासक राज्य करें, अन्यों पर आक्रमण न करें। ब्रिटेन में अब भी चारों ओर समुद्र है। भारत से यदि पाकिस्तान अलग नहीं होता तो यह देश भी एक भौज्य राज्य था। दक्षिण दिशा में जो सत्वत् (यादव) राज्य था, वहाँ का शासन भौज्य था और वहाँ के शासक भोज कहे जाते थे।

3. स्वराज्य या स्वाराज्य :–

वैदिक स्वराज्य में आत्मशुद्धि पर विशेष बल दिया जाता था। एवं निष्काम होकर यम–नियम का पालन भी करना पड़ता था। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र) कच्छ, सौवीर) का शासन–प्रकार 'स्वराज्य' या स्वाराज्य था और वहाँ के शासक स्वराष्ट्र कहलाते थे।

4. वैराज्य :–

यह शासन एक छोटी सीमा में चलता था। इसमें कोई पुरुष विशेष शासन न कर समस्त जाति मिलकर शासन करती थी। यह प्रणाली उत्तर दिशा में हिमालय के

---

1. स्वस्ति। साम्राज्यम् भौज्यं, स्वाराज्यं, वैराज्यं, पारमेष्ठ्यं राज्य महाराज्यं, आधियत्यमयं, समस्त पर्यायीस्यात्। सार्वभौम, सर्वायुषः आन्ताद् आपराद्धात् पृथिव्ये समुद्र पर्यन्ताया एकराड्। ऐतरेय ब्राह्मण 8.15.

क्षेत्र में (उत्तर कुरू, उत्तरमद्र आदि) जो राष्ट्र थे उन्हीं में वैराज्य की प्रणाली थी वहाँ के शासक 'विराट' कहलाते थे।

5. पारमेष्ठ्य राज्य :–

इसे परमेश्वर का राज्य कहते थे। इसमें मानवीय दोषों का सुधार किया जाता था। सबको परमेश्वर के समान सन्तान मानकर, सबसे समानाधिकार दिया जाता था। परमेश्वर को सर्वत्र उपस्थित मानकर शासक शासन करते थे। यह शासन प्रणाली मध्यदेश, कुरु, पांचाल आदि में प्रचलित थी। वहाँ के शासक राजा कहलाते थे।[1]

6. महाराज्य :–

इस प्रणाली में छोटे–छोटे राष्ट्र मिले होते थे। सभी राष्ट्र मिलकर संविधान बनाते थे, सभी लघु राष्ट्रों को शासन में समानाधिकार प्राप्त थे।

7. आधिपत्यमयराज्य :–

यह एक राजतन्त्रात्मक प्रणाली थी और राजा ही सर्वे सर्वा होता था। उसके बनाये संविधान का पालन होता था। यह राष्ट्र आधुनिक जगत् में प्रसारित नौकरशाही अथवा ब्यूरोक्रेसी से भिन्न था।

8. समस्त पर्यायीराज्य :–

माण्डलिक राजाओं को 'सामन्त' कहा गया है एवं माण्डलिक राष्ट्र किसी बड़े शासक के अधीन होते थे। उनमें निरंकुशता नहीं थी।

इस प्रकार आठ शासन प्रणालियों के होते हुए भी आर्यो का प्रख्यात और प्रिय प्रजातन्त्र ही था। जनराष्ट्र भी इसे कहा जाता था। जिसका वर्णन यजुर्वेद में मिलता है। इस प्रकार गणतन्त्र तथा राज्य तन्त्र दोनों प्रकार के शासन विधान के दृष्टान्त इस

---

1. ये केन प्राच्यानां दिशि प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैवतेऽभिषिच्यन्ते ये के च सत्वतां राजानः भोज्यायैव..... ये के च कुरुपांचालानां राजानः राज्यायैव ते भिषिच्यन्ते।
   ऐतरेय ब्रा. 8.33.

युग में मिलते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण काल में राष्ट्र एवं राज्यों का पूर्ण विकास हो चुका था।

उपनिषद्–

'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से उपनिषद् शब्द सिद्ध होता है। विशरण (नाश होना), अवसाधन (शिथिल होना) गति (जानना या पाना) इन तीन अर्थों में सद् धातु प्रयुक्त होती है। उपनिषद् अर्थात् जो विद्या गुरु के अत्यन्त निकट बैठकर सीखी जाती है वह उपनिषद् है। उपनिषद् पद का निर्वचन 'उप ब्रह्म सामीप्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्' इस प्रकार किया जाता है। उपनिषद् विद्या के अनुशीलन से मुमुक्षु की अविद्या नष्ट हो जाती है जिससे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है और प्राणियों के गर्भवास आदि दुःखों का विनाश हो जाता है। उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का मुख्यरूप से विवेचन हुआ है।

राष्ट्र की श्रेष्ठता और उच्चता का मापदण्ड उपनिषदों में ज्ञान को ही माना गया है। उपनिषदों मे भी क्षत्रियो का महत्त्व पराकाष्ठा को छू रहा था। उपनिषदों में राजाओं को प्रजा की रक्षा के साथ–साथ ब्रह्मविद्या ओर भक्ति के क्षेत्र में अग्रणी दिखाया गया है। समाज में प्रतिष्ठा के लिए क्षत्रियों ने अपने ज्ञान के बल पर अपने आपको राष्ट्र में उत्कृष्ट सिद्ध किया।[1] इस युग में क्षत्रिय राजा अनेक विद्याओं के प्रवर्तक माने गए हैं। क्षत्रिय राजा शासक होने के साथ–साथ दार्शनिक और विद्वानों के संरक्षक भी थे। इन्होंने अपनी विद्वता, दार्शनिकता और ज्ञान के द्वारा ब्राह्मणों को शिक्षा देकर अपना शिष्य बनाया।

1. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तत्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशन इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद् यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनि र्यद ब्रह्म। तस्माद यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनि य उ एनं हिनस्ति स्वा स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसंहिंसित्वा।।
   बृहदारण्यकोपनिषद् 1.4.11.

श्वेत केतु' ब्राह्मण के पिता, क्षत्रिय प्रवाहण जैबलि के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए तथा जैबलि के शिष्य बनकर उपदेश प्राप्त किया।[1] जैबलि को पंचाग्नि विद्या का प्रवर्तक माना गया है। जैबलि स्वयं को ब्रह्मविद्या का प्रणेता मानते थे तथा उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या की। आगे इनकी शिष्य परम्परा का प्रवर्तन क्षत्रिय द्वारा ही हुआ। क्षत्रियों ने ही इस विद्या का पूरे विश्व में प्रसार किया। बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार क्षत्रिय के पास ब्राह्मण वाणी से ही ज्ञानार्थ उपस्थित होते थे।[2] किन्तु क्षत्रियों के पास ब्राह्मणों का विद्या ग्रहणार्थ जाना विपरीत कर्म माना जाता था।[3] यद्यपि ब्राह्मणों का मुख्यतया आचार्यत्व पर अधिकार था परन्तु क्षत्रिय को आचार्यत्व के स्थान पर दिखाया गया है। छान्दोग्यपनिषद् के अनुसार उद्दालक आरुणि ब्राह्मणों के प्रश्नों का समाधान करने में असमर्थ होने के कारण उन्हें क्षत्रिय राजा अश्वपति कैकेय के पास ले गये। तब राजा अश्वपति कैकेय ने सत्कारपूर्वक ब्राह्मणों को ज्ञान प्रदान किया।[4] वेदों, उपनिषदों के ज्ञाता राजा जनक ब्रह्मज्ञानी भी थे। विविध विषयों पर विचार विमर्श के लिए राजा जनक के राजदरबार में विद्वानों की

---

1. श्वेकेतु र्हारूणेयः पंचालानां समितिमेयाय।
   तंह प्रवाहणो जैबलिरूवाच, कुमारानु त्वाऽशिषत्यितोत्त्यनु हि भगव इति।।
   छान्दो. उप. 5.3.1.
2. बृहद् उप. 6.2.7.
3. स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद् यत् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्षयतीति व्येव त्वा ज्ञयपिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषं सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयाञ्चक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोम राजन्निति स तोत्तस्थौ तं पाणिनाऽऽयेषं बोधयाञ्चकार स होत्तस्थौ।।
   बृहद् उप. 2.1.15.
4. तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार। स ह प्रातः सजिहान उवाच। न ते स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि याववददेवौकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि ताबद्भगवद्भयो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति।। छान्दो. उप. 5.11.5.

सभा हुआ करती थी। राजा जनक स्वयं भी वाद–विवाद अर्थात् शास्त्रार्थ में भाग लेते थे।[1]

आत्म चिन्तन तथा मनन पर अधिक बल देकर क्षत्रियों ने प्रजा को यज्ञों से विमुख कर दिया था।[2] इस प्रकार राजाओं ने ज्ञान के क्षेत्र मे स्वय को ब्राह्मणों के समकक्ष बना दिया। परन्तु क्षत्रियों को विद्या के क्षेत्र में भाग लेने के सम्बन्ध में कुछ भारतीय व पाश्चात्य विद्वान् सन्देह व्यक्त करते हैं। वैदिक इण्डैक्स के अनुसार– ये कथाएँ कुछ थोड़े से चुने हुए उच्च पदस्थ क्षत्रिय राजाओं का ही संकेत करती हैं इसका कोई प्रमाण नहीं है कि औसतन क्षत्रिय लोग भी ज्ञानार्जन से सम्बन्ध रखते थे।[3] उपर्युक्त प्रसंगों के अनुसार कुछ क्षत्रिय भी ब्राह्मणों के समकक्ष विद्वान् थे। राजाओं ने नई दार्शनिक विचारधारा को बनाया। क्षत्रिय आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे जिससे वे सुयोग्य ब्राह्मणों को दान भी करते थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राष्ट्र के संरक्षक क्षत्रियों ने उपनिषद–काल में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर ली थी और वे अपने आध्यात्मिक शक्ति के संचय से ही राष्ट्र को चलाते थे। उनके राष्ट्र में व्यसनशीलता का अभाव एवं सुख समृद्धि और वैभव का साम्राज्य विद्यमान था। तभी तो वे कहते थे कि हमारा राष्ट्र सम्पूर्ण पाप से मुक्त है। इस प्रकार से यह उपनिषद्–काल एक प्रकार का ब्रह्म राष्ट्र काल के समकक्ष था। अतः यह सर्वोत्कृष्ट शासन का युग माना जाता है।

---

1. जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा.... गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति। अथैतद् वामेऽक्षणि पुरुषरूप मेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेष.....इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः।।

   वृहद् उप. 4.2.1.3.

2. वही, 5.15.5, कौषी उप. 3.4.2.5.
3. मैकडानल, वैदिक इन्डैक्स, भाग–1, पृ. 229.

आरण्यक :–

ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यकों का स्थान आता है। आरण्यक नाम अरण्य में अध्ययन किये जाने के कारण है।[1] ग्राम के भीतर इनका अध्ययन कथमपि लाभप्रद, उपादेय तथा उचित नहीं था इसलिये आरण्यक नामक ग्रन्थों के अध्ययन एवं मनन का स्थान अरण्य का एकन्त एवं शान्त वातावरण था। आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञ नहीं प्रत्यु यज्ञयागों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा है, यज्ञीय अनुष्ठान नहीं, बल्कि दार्शनिक विचार ही इनके मुख्य विषय हैं। आरण्यक ग्रन्थ ही ब्राह्मण ग्रन्थों के समान इन यज्ञों को बताने वाले ग्रन्थ हैं।

वेदों से आरण्यक ग्रन्थों को सारतत्त्व मानकर औषधियों से निकाले गये अमृत के समान निकाला गया है।[2] 'आरण्यक' को गोपथ ब्राह्मण में 'रहस्य' कहा गया है।[3] निरुक्त की वृत्ति में दुर्गाचार्य ने आरण्यक को 'रहस्य' ब्राह्मण कहा है।[4] इस प्रकार विषय की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् कुछ साम्य रखते हैं। इस दृष्टि से बृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रन्थ बृहदारण्यक उपनिषद शब्द से भी अभिहित किये जाते हैं। उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म का निरूपण है जब कि आरण्यक ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्राण विद्या और प्रतीक योजना का विवेचन है। दोनों ही ग्रन्थ रहस्यमय हैं।

सांसारिक मनुष्यों से सम्बद्ध होने के कारण ऐतरेय आरण्यक में कहा गया है कि– सत्य और असत्य के मिथुन से मनुष्य इस लोक में निन्दा रहित रहता है, और

---

1. अरण्याध्ययनादेतद् आरण्येकमितीर्यते।
   सायणभाष्य, तै. आ. श्लोक 6.
2. आरण्यकं च वेदेभ्यः, ओषधिभ्योऽमृतं यथा
   महाभारत, 1.265.
3. गोपथ ब्राह्मण, 2.10.
4. निरुक्त (दुर्ग वृत्ति) 1.4.

परलोक में उत्कृष्ट जन्म पाता है।[1] अतः तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है कि मनुष्यों के लिये सामर्थ्य से अधिक दान देना और धन–धान्य से सम्पन्न होने पर भी याचक को सन्तुष्ट न करना ये दोनों कार्य अनुचित हैं। ऐसा व्यक्ति जीवित ही मृत्यु के समान है और पाप अर्जित करता है।[2] सम्भवतः तत्कालीन राष्ट्र में धन का बहुत महत्त्व था।[3] एवं सुख–समृद्धि के लिए यज्ञानुष्ठान किये जाते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त का ऐतरेय आरण्यक में विनियोग है। जिसका अभिप्राय है कि सुख–समृद्धि की इच्छा से इस सूक्त का उच्चारण करना चाहिए। जो यजमान की धनादि भौतिक वस्तुओं की कामना पूर्ण करता है।[4]

डॉ0 राधाकृष्णन् के मतानुसार–आरण्यकों का काल–स्थान ब्राह्मण–ग्रन्थों और उपनिषदों का मध्यवर्ती है। जैसा कि आरण्यक नाम संकेत करता है, उन पुरुषों के विषय में जो वनों में चिन्तन एवं मनन करते हुए निवास करते थे। ब्राह्मण–ग्रन्थों में उन कर्मकाण्डों का विवेचन है, जिनका विधान गहस्थों के लिये था। परन्तु वृद्धावस्था में जब वह वनों का आश्रय लेता है, जो कर्मकाण्ड के स्थान में किसी और वस्तु की उसे आवश्यकता है, आरण्यक उसी की पूर्ति करते है। आरण्यक एक प्रकार से ब्राह्मणो मे निहित कर्म–काण्डों एवं उपनिषदों के दार्शनिक ज्ञान के मध्यवर्ती संक्रमणकाल की शृंखला के रूप में है।[5]

आरण्यक ग्रन्थों में समाज का विशद् वर्णन है। उस काल के समाज की समन्वय भावना का प्रभाव तत्कालीन चिन्तन पर भी पड़ता हुआ दिखाई देता है। इनके अनुसार मनुष्यों को न तो केवल ज्ञान–मार्ग से शाश्वत सुख मिलता है, और ना केवल

---

1. सत्यानृते मिथुनी करोति तयो मिथुनात्प्रजायते भूयान भवति।
   ऐतरेय आरण्यक, 2.3.6.
2. स यत्सर्व नेति ब्रूयात्पापिका स्य कीर्तिजायते सैनं तत्रैवहन्यात्। वही, 2.3.7.
3. अति धुम्न एव ब्राह्मण ब्रूयात्। ऐतरेय आरण्यक 3.1.3.
4. ऋग्वेद 3.13.
5. राधा कृष्णन, भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. 59.

कर्म मार्ग से ही, प्रत्युत ज्ञान एवं कर्म का समन्वय ही आत्यन्तिक सुख का साधक माना है, और वह मार्ग है– यज्ञ का। यज्ञ समाज की प्रतीक होता था। अत एव आरण्यकों की दृष्टि में यह समस्त विश्व ही एक महान् यजमान है।

ऐतरेय आरण्यक में सृष्टिक्रम के वर्णन में कहा गया है कि सर्वप्रथम प्रजापति से देवताओं की उत्पत्ति हुई। देवताओं का रेतस् (वीर्य) वर्षा है, वर्षा का रेतस् औषधि, औषधि का रेतस् अन्न, अन्न का रेतस् वीर्य हैं। वीर्य का रेतस् प्रजा, प्रजा का रेतस् हृदय, हृदय का रेतस् मन, मन का रेतस् वाणी और वाणी का रेतस् है कर्म। तथा पुरुष द्वारा किया गया कर्म ही उसका भावी ब्रह्मलोक है। सम्भवतः यहाँ परिश्रम के महत्त्व पर बड़ा बल दिया गया है। आरण्यकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन राष्ट्र बड़ा कर्मठ रहा होगा।[1]

तत्कालीन राष्ट्र में पूर्व–परम्परानुसार–शकुन–अपशुकनों के विचार भी प्रचलित थे।[2] आरण्यककाल में गृहस्थ का परम कर्त्तव्य अतिथि का सत्कार करना माना गया है। किन्तु जो सन्मार्ग का अनुसरण करे वही सत्कारणीय माना गया है। यहाँ असाधु पुरुष दरिद्र एवं विद्वान् होते हुए भी आतिथ्य का भागी नहीं माना गया।[3] ऐसी स्थितियों का वर्णन जनमानस के अनुभवों के आधार पर किया गया है।

अतः यहाँ कहा जा सकता है कि– उस समय राष्ट्र समृद्ध, सन्तुलित और धर्मपरायण था एवं इसमें रहने वाले व्यक्ति परिश्रमी और सत्यनिष्ठ होते थे। भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति समानान्तर होने से राष्ट्र की स्वच्छ छवि परिलक्षित होती है। आरण्यक–ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उस समय में राष्ट्र की अविरल धारा–संयत गति से गतिमान थी,

---

1. वायो रेतः कर्म नदिहं कर्म कृतमयं पुरुषो ब्राह्मणो लोकः। ऐतरेय आरण्यक 2 1 3
2. ऐतरेय आरण्यक, 3.2.4.
3. यो वै भवति या श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति।
   न वा असन्तमातिथ्या याद्रियन्ते। ऐतरेय आरण्यक 1.1.1.

2.4. रामायण एवं महाभारत कालिक राष्ट्र शब्द की अवधारणा :–

भारतवर्ष में महर्षि बाल्मीकिकृत रामायण एवं वेदव्यास–प्रणीत महाभारत से कौन स्वदेशी (भारतीय अथवा विदेशी परिचित न होगा। इन विशालकाय उपजीव्य काव्यों मे संस्कृति, साहित्य, कला, नीति, धर्म, दर्शन, विज्ञान, राष्ट्रीयता आदि सब कुछ मौलिक रूप से निहित है। भारत की जो पुरातन ऐतिहासिक अनुश्रुति–रामायण, महाभारत में संगृहीत है वह भारत के प्राचीन राज्यों की शासन पद्धति पर अच्छा प्रकाश डालती है। उक्त ग्रन्थों में अपने राष्ट्र के प्रति व्यक्तियों में आत्मीयता, अनुराग, आदर, स्वाभिमान एवं कर्त्तव्य की भावना का उदय दृष्टिगोचर होता है जो कि राष्ट्र की सार्वभौम प्रतिष्ठा के लिए परम आवश्यक होता है।

रामायण कालिक राष्ट्र शब्द की अवधारणा :–

महर्षि बाल्मीकि कृत चौबीस हजार श्लोक समन्वित इस विशालकाय उपजीव्य काव्य में श्रीराम के जीवन–चरित द्वारा राष्ट्र के लोगों में अपने–अपने कर्त्तव्यों को भली प्रकार जानकर सुचारु रूप से निभाने की प्रेरणा दी है।

राष्ट्र की समृद्धि के लिए महर्षि अतिजागरूक रहे हैं। प्रजा के रक्षण एवं राष्ट्र के जन–जन के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा तथा उदार–भावना आज भी पाठकों के हृदय को आत्म विभोर कर देती है। त्रेता युग के राजा दशरथ एवं राजा राम के शासनकाल में उनके द्वारा सन्तुष्ट प्रजाजनों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्र की प्रजा तन–मन एवं धन से समृद्ध होनी चाहिए। राष्ट्र में सभी मनुष्य धर्मात्मा, सुशिक्षित, सत्यवादी, अपनी सम्पत्ति से सन्तुष्ट रहने वाले, सम्पत्ति सम्पन्न, संयमी, देवताप्रिय, प्रसन्नचित्त, दीर्घायु, पराक्रमी, शूरवीर, कृतज्ञ, स्त्री पुत्र–पौत्रों से युक्त, परस्पर प्रीतिमान्, स्वच्छ वेश–भूषा वाले, नीरोग, जागरूक, राजा के हितैषी, हृष्ट–पुष्ट हों और उसमें कामी, कायर, क्रूर, मूर्ख, लोभी, अपूर्ण, नास्तिक, निराभरण, मलिन, दुर्गन्धित, दुराचारी, मिथ्यावादी, ईर्ष्यालु, असंयत, क्षुद्र, चोर, अवैध, अवैदिक, दीन,

दुर्बल, विक्षिप्त चित्त, व्यथित, कुरूप तथा राजद्रोही न हों।[1]

महर्षि ने यह कामना भी व्यक्त की है कि प्रजापालक को सदैव राष्ट्रीय संस्कृति का प्रचार–प्रसार करना, अपने राष्ट्र की समृद्धि बढ़ाना, प्रशासन एवं न्याय की पर्याप्त व्यवस्था करना, सदैव सुरक्षा हेतु सैन्यादि की उत्तम–व्यवस्था रखना, अपने सदाचार सम्पन्न आचरण से अपनी लोकप्रियता बढ़ाते रहना, अमात्यमण्डल एवं मन्त्रिमण्डल में राष्ट्रभक्त, निर्लोभ, कुलीन, सत्यनिष्ठ, स्वाध्यायशील और सदाचार–परायण मनीषियों की नियुक्ति, मन्त्रणा की गोपनीयता पर ध्यान देना चाहिए। सेनापति ऐसे व्यक्ति को बनाना चाहिए जो पराक्रमी धैर्यवान, बुद्धिमान, पवित्र, सन्तुष्ट रहने वाला हो, सम्पूर्ण सेना को वेतन एवं सम्मानद उपहारों से सन्तुष्ट करने वाला, अपने में (राजा में) प्रेम, आदर और श्रद्धा रखने वाला, रणविद्या में पारंगत, देशानुरागी मनीषी एवं वाग्मीव्यक्ति की राजदूत के पद पर नियुक्ति करने वाला, शत्रुपक्ष की कभी उपेक्षा न करने वाला, शिक्षा, वाणिज्य एवं कृषि का समुचित तथा दिन–प्रतिदिन विकास करने वाला, आस्तिकभाव रखने वाला, विमर्शपूर्वक कार्य करने वाला, देश तथा काल के विपरीत कार्य न करने वाला, दण्डादि नीतियों का उचित उपयोग करने वाला, अशुभेर्दक कार्य को भूलकर भी न करने वाला, प्रजा से उचित कर ग्रहण करने वाला, राष्ट्रीय धन का दुरुप्रयोग नहीं

---

1. (क) भरतः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच रघुनन्दनम्।
विबुधात्मनिदृश्यन्ते त्वयि वीर प्रशसित।।

(ख) अमानुषाणिः सत्तवानि व्याहृतानिमुहुर्मुहः ।
अनामयश्च मर्त्यानां साग्रो मासो गतो ह्ययम्।

(ग) जीर्णानामपि सत्त्वानां मृत्युर्नायाति राघव।
अरोगप्रसवा नार्यो वपुष्मन्तो हि मानवाः।।

(घ) हर्षश्चाभ्यधिको राजञ्जनस्यपुरवासिनः।
काले वर्षति पर्जुन्यः पातयन्नमृतं पयः।।

बाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 41.17–20, द्रष्टव्य 99.11–14.

करने वाला, पुरुषार्थों के पालन में विसंगति अथवा असामयिकता न आने देने वाला, कर्कश, दुर्बुद्वी, अजितेन्द्रिय एवं स्वेच्छाचारी नहीं होने वाला, सत्य एवं धैर्य का पालन करने वाला। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि राजा को अपने राष्ट्र की अच्छी तरह से देखभाल करनी चाहिए।[1]

अराजक राष्ट्र में ऋषि यज्ञ नहीं कर सकते, मनुष्य सभायें नहीं जुटवाते, मुकद्मों के सही निर्णय नहीं होते, कृषि एवं गोपालन से जीविका चलाने वाले लोग सुरक्षित नहीं रह सकते, बहुत–सा बिक्री का सामान लेकर दूर देशों में जाने वाले वैश्य लोग कुशलतापूर्वक मार्ग में नहीं चल सकते और अराजक राष्ट्र में योग क्षेम नहीं रहता। अराजक राष्ट्र की वैसी दुर्दशा होती है जैसा कि बिना घास वन की, जलरहित नदियों की एवं गोपाल रहित गौओं की। राजा सत्य और धर्म है, राजा सभी का मित्र, माता और पिता है तथा प्रजा का हित चाहने वाला है। राष्ट्र में राजा न हो तो यह संसार अन्धकार जैसा बन जायेगा।[2] वाल्मीकि ऋषि ने इस वर्णन में राजाहीन राष्ट्र का चित्रण किया है जिससे सुशासन की आवश्यकता एवं राजा का महत्त्व स्पष्ट होता है। अतः शासन का दूसरा रूप अथवा पर्याय राजा ही है।

---

1. (क) न्यायेन राजा कार्याणि यः करोति दशानन।
न स संतप्यते पश्चान्निश्चितार्थमतिनृपः।।
(ख) अनुपायेन कर्माणि विपरीतानि यानि च।
क्रियमाणानि दुष्यन्ति हवींष्यप्रयतेष्विव।।
(ग) यः पश्चात्पूर्वकार्याणि कुरूते कर्माण्यभिचिकीर्षति।
पूर्वं चापरकार्यणि स न वेद नयानयो।।
(घ) चपलस्य तु कृत्येषु प्रसमीक्ष्याधिकं बलम्।
छिद्रमन्येप्रपद्यन्ते क्रौञ्चस्य स्वमिव द्विजाः।।
बाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, 12.30–33. द्रष्टव्य, 63.7.15 भी।

2. बाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग 43.

राम–राज्य में वृष्टि का समयानुसार होना, सदा सुख देने वाले पवन का चलना, मनुष्यों का नगरों और देहातों में हृष्ट–पुष्ट रहना, असामयिक किसी की मृत्यु न होना एवं किसी प्रकार के रोग से पीड़ित न होने के कारण प्रजाजन अत्यन्त हर्षित थे। पुरवासी और जनवासी यह कहा करते थे कि ऐसा राजा बहुत दिनों से नहीं हुआ।[1] अपने वर्णानुसार सब लोग धार्मिक कृत्यों में लगे रहते थे। इस प्रकार वे हर्षित रहते थे। बाल्मीकि के अनुसार राम–राज्य में सारी प्रजा झूठ से दूर एवं धर्मरत थी। धर्म–परायण और शुभ लक्षणों से युक्त सभी प्रजाजन थे।[2]

बाल्मीकि ने राष्ट्र के सात अंग राजा, अमात्य, जनपद, कोष, पुर, दण्ड (सेना) और मित्र बताए हैं। बाल्मीकि ने राष्ट्र के स्वरूप के विषय में एक ही मत अभिव्यक्त किया है। उन्होंने राष्ट्र को सप्तांग माना है। श्री राम गुह से अयोध्याकाण्ड के सर्ग 35 में कहते हैं– 'तुम सेना, कोष, दुर्ग और जनपद के विषय में सदैव सावधान रहना, क्योंकि राष्ट्र का पालन करना अति दुष्कर माना गया है। हनुमान सुग्रीव से किष्किन्धाकाण्ड (सर्ग19) में कहते हैं कि वह महान् राष्ट्र को पाता है जिसकी सेना, जिसका कोष, जिसके मित्र और जिसकी आत्मा ये सब समान रहते हैं।

राष्ट्र में आदिकवि ने धर्म को ही जगत् का सार माना है और कहा है कि धर्म से अर्थ उत्पन्न होता है, धर्म से सुख होता है और धर्म से ही मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। धर्म का परिपालन रामायण परमावश्यक मानती है। अतः धर्म की जगत् का

---

1. ऋक्षवानररक्षांसि स्थिता रामस्य शासने।
   अनुरञ्जीन्त राजानो ह्यध्न्यहीन राघवम्।।
   काले वर्षति पर्जन्यः सुभिक्षं विमला दिशः।
   हृष्ट–पुष्टजनाकीर्णं पुरं जनपदास्तथा।।
   बाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड सर्ग, 99, 12–13.
2. वही, युद्धकाण्ड, 75,28–33.

सार है।[1] सत्य एवं मानवता को भी ऋषियों ने धर्म ही स्वीकार किया है।[2]

बाल्मीकि ने राजधानी की सुरक्षा हेतु देश–नायकों को यह भी अभिप्रेत किया है कि राजधानी के चारों ओर एक पर्याप्त लम्बी चौड़ी, सजल एवं गहरी खाई हो जो कि ऊँची चारदीवारी के लौहे कपाट अर्थात् लौह शृंखला से युक्त हो, उसमें ही शस्त्रास्त्रों के भण्डार होने चाहिएं। सभी प्रकार के सुरक्षा सैनिक बड़ी संख्या में राजधानी के सब ओर स्थान–स्थान पर निरन्तर नियुक्त करने चाहिएं एवं सुव्यवस्थित तथा पर्याप्त रूप में सेना भी होनी चाहिए।[3]

---

1. धर्माद्रर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्।
   धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।।
   बाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्डम् 9.30, एवं द्रष्टव्य।
2. आहुः सत्यं हि परमं धर्मं विदो जनाः।
   सत्यमेवेश्वरो लोक सत्ये धर्मः सदाश्रितः।। बाल्मीकि रामायण,अरण्यकाण्डम् सर्ग,14.3.
   बाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड 109.13.
3. (क) तां ता राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः।
   पुरीमावासयामास दिविदेवपतिर्यथा।
   (ख) कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम।
   सर्वयन्त्रायुधवती मुषितां सर्वशिल्पिभिः।।
   (ग) सूतमागधसंबाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
   उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम्।।
   (घ) वधूनाटकसङैधश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्।
   उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालेमेखलाम्।।
   (ङ) दुर्गगम्भीर परिखां दुर्गमिन्य दुरासदाम्।
   वाजि–वारणसंपूर्णां गोभिरूष्ट्रैः खरैस्तथा।।
   बाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 5.9–23.,
   द्रष्टव्य, वही, अयोध्याकाण्ड 100.40–42,53.

संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि रामायण में राष्ट्र की अवधारणा सम्बन्धी सभी पहलुओं का वर्णन प्राप्त है।

महाभारत कालीन राष्ट्र शब्द की अवधारणा :–

महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत में हमारे भारतवर्ष का प्राचीन वैभव एवं गौरव का चित्रण एक लाख श्लोकों में निबद्ध है। इस अतिविशालकाय वीरकाव्य में मुख्य रूप से कौरवा और पाण्डवों की युद्धगाथा का ही वर्णन है। परन्तु यदि ऐसा कहा जाए कि यह भारतीय ज्ञान का 'विश्वकोष' है तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती।

महाभारत के अध्ययन से यह विदित होता है कि जहाँ यह ग्रन्थ मानवीय भाव मणियों का कोषागार है, वहाँ इससे अपने देश के प्रति गौरव एवं राष्ट्रानुराग, रक्षणादि की भी कमी नहीं अखरती। यहाँ प्रजानुरंजन एवं निजराष्ट्र की सतत उन्नति में चिन्तनशील सम्राट की स्तुति तथा एक आदर्श रूप एवं अन्य राष्ट्रों के लिए अनुकरणीय राष्ट्र बनाने के यत्नों की प्रशंसा की गई है।[1] राष्ट्र को पीड़ा ना हो इसके लिए राजाओं को जागरूक रहने की प्रेरणा दी गई है। राष्ट्र की रक्षा, सुरक्षा, आन्तरिक रक्षा आदि के प्रति अध्यवसाय करते रहने का उपदेश दिया है। प्रजा वर्ग की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक स्थिति में सुधार और निखार लाने पर भी बल दिया गया है।[2]

भारतीयता का परिचय देने वाला समूचे भारत देश का गौरवशाली वर्णन भी यहाँ चिचित्र मिलता है। इसी प्रसंग में भारतवर्ष की नदियों और जनपदों का वर्णन भी किया है जो भारतवर्ष की गरिमा का सूचक है और पाठकों के चित्तपटल पर भारतीयता के प्रति स्वाभिमान के भाव अंकित कर देता है।[3]

---

1. महाभारत, आदिपर्व, 103.11, 104.44–45., महाभारत, शा.पर्व. 67.1–17.
2. वही, सभापर्व, 5.17–129.
3. वही, भीष्मपर्व, 3–12.

महर्षि वेदव्यास ने राष्ट्र के लिए गोधन की रक्षाहेतु प्राणों की भी 'बाजी' लगा देने की प्रशंसा की है। इस सन्दर्भ में विराट् युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव आदि द्वारा त्रिगर्तराज सुशर्मा की विशाल सेना को परास्त करके अपने अपहृत गोधन की रक्षा करने की कथा, तथा अकेले बृहन्नला (अर्जुन) द्वारा भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, अश्वत्थामा आदि द्वारा सुरक्षित भीषण कौरव सेना को पराजित करके विराट् के गोधन की रक्षा करने की कथा उल्लेखनीय है।[1] इस महाकाव्य में भारतीय संस्कृति के प्रतीक भूत तीर्थस्थलों की महिमा को वर्णित किया गया है। इसमें भी अपने देश की धार्मिक पवित्रता पर आस्था हमारे मन में जागृत होती है, जो राष्ट्र के स्वरूप को दर्शाती है।

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर युद्ध में कौरवों पर विजयी होने के बाद व्यास की आज्ञा और श्रीकृष्ण की संस्तुति से अश्वमेध यज्ञ भी करते हैं, जिसमें सेनासहित अर्जुन अश्व की रक्षा हेतु प्रस्थान करते हैं और पाण्डवों का साम्राज्य स्थापित व पुष्ट करने के लिए एक बार सम्पूर्ण भारतवर्ष के राजाओं और महाराजाओं को जीत लेते हैं।[2] महर्षि वेदव्यास का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि युधिष्ठिर अपने सम्पूर्ण भारत देश पर राज्य करते थे। उक्त सन्दर्भ से यह भी विदित हो जाता है कि हमारे इस प्यारे 'राष्ट्र' के प्रति आत्मीयता के भाव उस समय भी पूर्णरूप में विद्यमान थे।[3]

अतः हम देखते हैं महर्षि वेदव्यास ने भारतीय गणतन्त्र के दायित्वों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। गणतन्त्र राष्ट्र को परस्पर एक होकर सहनशील एवं निर्भीभ बनकर व्यवहार करना चाहिए। देश की सेनाशक्ति को जैसे–कैसे भी स्वस्थ, सुदृढ़ एवं सन्तुष्ट

---

1. महाभारत, विराट पर्व, अध्याय 30–67.
2. वही, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय, 71–89.
3. एवं भारत वर्षं स्वं राजा स्वर्ग सुरेन्द्रवत्।
   शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो माण्डीव धन्वना।
   महाभारत आश्वमेधिक पर्व अध्याय, 14–47.

रखना चाहिए, क्योंकि इसी में देश की सुरक्षा निहित है। व्यष्टिवाद को सर्वथा समाप्त करके समष्टि के अभ्युदय में जागरूक होना चाहिए। प्रजा को उत्तम शिक्षा–दीक्षा एवं शासन व्यवस्था को समुचित्तरूप से चलाने के लिए मन्त्रणा– पटु मन्त्रियों एवं रहस्यवेदी गुप्तचरों का प्रबन्ध करना चाहिए। पारस्परिक वैर–विरोध सर्वथा समाप्त कर देना चाहिए, क्योंकि इससे गणराज्य की सत्ता कभी न कभी खतरे में पड़ सकती है। अतः गणराज्य अर्थात् भारत के प्रत्येक नागरिक एवं कर्णधार का सर्वप्रथम प्रमुख कर्त्तव्य यही बनता है कि अपने राष्ट्र में आपसी फूट डालने वाले दुर्भाव कथमयि पनपने न दें जो राजनैतिक और राष्ट्रीय स्वरूप की भावनात्मक सत्ता के घातक हों।

2.5. धर्मशास्त्र में राष्ट्रीय चिन्तन या स्वरूप :–

धर्मशास्त्र के इतिहास में मनु ऋषि का स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। राजशास्त्र के सभी प्रमुख आचार्यों ने उनके द्वारा दी गई व्यवस्थाओं की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। भारतीय परम्परा के अनुसार मनु ऋषि सर्वप्रथम विधि–प्रणेता हैं। उन को व्यास ने राजशास्त्र प्रणेता माना है और भारद्वाज, शुक्राचार्य, विशालाक्ष, महेन्द्र और गौरशिराआदि ने जगत् विख्यात राजशास्त्र प्रणेताओं में इन्हें भी परिगणित किया है।[1] धर्मशास्त्रों में सर्वप्रथम स्थान मनुस्मृति अथवा मानवधर्मशास्त्र का है। जिसमें मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक राजनैतिक व व्यावहारिक जीवन की व्याख्या दी गई है।

राष्ट्र के स्वरूप के अतिरिक्त सृष्टि रचना–क्रम में भी सिद्धान्त का आश्रय धर्मशास्त्र में लिया गया है। मनु के राष्ट्र के स्वरूप के विषय में मनु के विचारों को जानने के लिए मानव धर्मशास्त्र में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है, केवल संकेत रूप में कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं, जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि मानव धर्मशास्त्र के

---

1. (क) विशालाक्षश्च भगवान्काव्यश्चैव महातपः।
सहस्राशो महेन्द्रश्च तथा प्रचेतसो मनुः।।
महाभारत, शा.पर्व. 2.58, द्रष्टव्य, 3.58.

रचयिता राष्ट्र के स्वरूप में आस्था रखते थे।

मानवधर्मशास्त्र प्रारम्भ में, सृष्टि रचना किस प्रकार हुई, इस विषय का वर्णन है। इस वर्णन के अनुसार सृष्टि रचना के निमित्त विराट् पुरुष की कल्पना की गई है। मनु का मत है कि प्रारम्भ में ब्रह्मा से महाशक्तियुक्त सात पुरुषों के संयोग से विराट् (भगवान्) पुरुष की उत्पत्ति हुई है। यह सात पुरुषों (अहंकार, महत्तत्व तथा शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं) की सूक्ष्म मूर्ति के अंशो से अविनाशी से नाशवान् जगत् की उत्पत्ति हुई।[1] मनीषिगंण ने इसी जगत् को अविनाशी भगवान् का मूर्तिमान रूप (विराट् पुरुष) माना है।[2] इस विराट् पुरुष से नर और नारी जगत् का निर्माण किस प्रकार हुआ इसका वर्णन मनु ने इस प्रकार किया है कि उस विराट् पुरुष ने अपने शरीर के दो भाग किये, एक अर्द्ध भाग से नर और दूसरे अर्द्ध भाग से नारी की उत्पत्ति हुई ।[3] राष्ट्र की वृद्धि के लिए उस विराट् पुरुष ने अपने मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पाद से शूद्र की उत्पत्ति की है।[4]

मनु ने जिस प्रकार जगत् (संसार) के स्वरूप को विराट् पुरुष माना है उसी प्रकार उन्होंने राष्ट्र के स्वरूप को भी माना है। वे राष्ट्र को विराट् पुरुष मानते हैं। यह सात अंगों के संयोग से निर्मित माना गया है। इसीलिए वह राष्ट्र को सप्तात्मक अथवा सप्तांग राष्ट्र के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह सात अंग राष्ट्र (राज्य) के स्वामी,

---

1. तेषामिदं तु सुप्तानां पुरुषाणां महौजसाम।
   सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम्।। मनु. 1.19.
2. तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः। मनु. 1.17.
3. द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
   अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।। वही, 1.32.
4. लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाह्वरूपादतः।
   ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। वही, 1.31.

अमात्य, सुहृद, पुर, राष्ट्र, कोश और दण्ड (सेना) बतलाए हैं।[1] मनु का ऐसा मत है कि यह सात अंग परस्पर एक दूसरे के सहारे राष्ट्र के अस्तित्व को उसी प्रकार स्थिर रखते हैं जैसे कि तीन दण्ड एक दूसरे के सहारे पर खडे रहकर त्रिदण्ड रूप आकृति के आस्तित्व को पृथ्वी तल पर स्थिर रखने में समर्थ होते हैं।[2] राष्ट्र में इन सात अंगों में से किसी को भी एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं मानते।[3] राष्ट्र के स्वरूप से मनु परिचित थे, इसलिए उन्होंने इसका आश्रय मानवधर्म शास्त्र में राष्ट्र के स्वरूप के रूप में लिया है।

ऋग्वेद में उस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पादों से शूद्र की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।[4] यजुर्वेद में राष्ट्र का वर्णन पुरुष रूप में किया गया है। यहाँ राजा को उस पुरुष का प्राण माना गया है।[5] पुरुष सूक्त में जगत् के निर्माण के विषय में कहा गया है कि प्रारम्भ में उस परमात्मा से विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। विराट् के ऊपर एक अधिष्ठाता पुरुष हुआ। वह उत्पन्न होने पर विभक्त होने लगा। उस पुरुष के तीन रूप हैं– (1) विश्वव्यापी विराट् पुरुष, (2) पृथ्वी पर चारों ओर रहने वाला मानव समाज रूपी अथवा राष्ट्र पुरुष और (3) मानव व्यक्तिरूप पुरुष। राष्ट्र पुरुष के अवयव इस प्रकार बताये हैं– इस पुरुष का मुख ब्राह्मण है, इस पुरुष के बाहु क्षत्रिय अर्थात्– शूर पुरुष हैं। इसका मध्यभाग या उरु वे हैं जो वैश्य हैं और पाँवों के स्थान में शूद्र हैं।[6] वैदिक साहित्य में सप्तात्मक राष्ट्र की

---

1. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
   सप्तप्रकृतयोह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।। मनु. 9.294.
2. सप्ताङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत्। मनु. 9.296.
3. अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंञ्चिदतिरिच्यते। मनु. 9.296.
4. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृतः।
   उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्।। ऋग्वेद, 10.90.12.
5. राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्। यजुर्वेद, 20.5.
6. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ. 63.

कल्पना के प्रमाण नहीं मिलते।

राष्ट्र के सात अंग महाभारत में भी माने गए हैं। वे सात अंग आत्मा, अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर बतलाये हैं।[1] राष्ट्र के स्वरूप की पुष्टि महाभारत के रचयिता भी मनु की भाँति ही करते हैं।

बृहस्पतिस्मृति में भी राष्ट्र (राज्य) को सप्त प्रकृति युक्त माना है।[2] इसी प्रकार अन्य स्मृतियों में भी राष्ट्र का वर्णन सप्तात्मक या सप्तांग रूप में किया है। पुरुणों में भी सप्तात्मक या सप्तांग राष्ट्र स्वरूप की चर्चा की गई है। कौटिल्य, शुक्रनीति ने भी मनु की भाँति ही राष्ट्र (राज्य) के स्वरूप को सप्तांग ही माना है।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि– प्राचीन भारत के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राष्ट्र (राज्य) के सप्तांग ही माने हैं। उन्होंने राष्ट्र की उत्तमता इन अंगों की उत्तुमता पर ही मानी है, सम्पूर्ण राष्ट्र इन अंगों पर ही टिका हुआ है, इन अंगों में से यदि एक अंग भी विकारग्रस्त हो जाए तो सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वरूप भी विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाएगा अर्थात् बदल जायेगा।

---

1. आत्माऽऽमात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।।
   तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
   एततसप्तात्मक राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नत ।।
   महाभारत, शां, पर्व., 69.65.
2. सप्तप्रकृतिकं यत्तु विजिगीषोररेश्च यत्।
   चतुर्दशकमे वेदं मण्डलं परि चक्षते।। बृहस्पति स्मृ. 1.23.
3. (क) स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।।
   कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1.1.6.
   (ख) स्वाम्यमात्यसुदृत्कोश राष्ट्रदुर्ग बलानि च।
   सप्तांगमुच्यते राज्यं।। शुक्रनीति, 1.61.

तृतीय अध्याय

दयानन्द वाङ्मय में राष्ट्रीय चेतना के सूत्र

3.1. (क) दयानन्दकालिक धार्मिक परिस्थितियाँ

(ख) दयानन्दकालिक सामाजिक परिस्थितियाँ

(ग) दयानन्दकालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ

3.2. भारत–स्वतन्त्रता के प्रेरक ऋषि दयानन्द

3.3. भारतीय राष्ट्रवाद का पुनरूत्थान

3.4. वर्णाश्रम–व्यवस्था

3.1. (क) दयानन्द कालिक धार्मिक परिस्थितियाँ :–

जो भारतीय धर्म अपनी पुराकालीन विशुद्धता, वैचारिक उदारता तथा अच्छे आदर्शों से जाना जाता था वही उन्नीसवीं शताब्दी में मिथ्या धारणाओं, अन्धविश्वासों, पाखण्डों, विषमतापूर्ण आचरणों एवं आड़म्बरों से दूषित हो गया था। महर्षि दयानन्द के अनुसार महाभारत के युद्ध के बाद धर्म की दुर्दशा इस प्रकार आरम्भ हुई– "जब बड़े–बड़े विद्वान्, राजा व महाराजा, ऋषि व महर्षि लोग महाभारत युद्ध में मारे गये और बहुत से मर गये तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। जो परम्परा से वेदादि शास्त्रों का अर्थ–सहित पढ़ने का प्रचार था, वह भी छूट गया। केवल जीविकार्थ पाठ्यमात्र ब्राह्मण लोग पढ़ते रहे तब पाठ्यमात्र भी क्षत्रिय आदि को न पढ़ाया, क्योंकि जब अविद्वान् गुरु बन गये तब छल, कपट और अधर्म भी उनमें बढ़ता चला गया।"[1]

(1) वैदिक धर्म का ह्रास :–

एकमात्र वैदिक धर्म ही मानव का सच्चा धर्म है। भारत देश के अधिकतर निवासी इसी धर्म के अनुयायी हैं और उन पर वेदों का सदैव ही प्रभाव रहा है। परन्तु अनेक विकृतियों और मत–मतान्तरों के विकास के कारण वैदिक धर्म का महत्त्व समाप्त हो गया था। पुरातन आर्य–धर्म में विशुद्ध वैदिक तत्त्वों के स्थान पर अन्य लोकायत मतों की आस्थाओं और विश्वासों का मिश्रण हो गया था। "पौराणिक धर्म भी विशुद्ध शैव, वैष्णव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायों की अनेक शाखा व प्रशाखाओं में विभक्त हो गया था। ये सम्प्रदाय अनेक विरोधी मत विश्वासों, आचारों, कर्मकाण्डों तथा आड़म्बरपूर्ण अनुष्ठानों के साथ–साथ आपस में एक–दूसरे के नाम की निन्दा भी करते थे।"[2] विभिन्न सम्प्रदायों में अनेक मत–मतान्तरों के कारण धर्म ऐसे रूप में परिवर्तित हो गया था जिनके मन्तव्य व पूजाविधि आदि मूल वैदिक धर्म के विपरीत थे।

---

1. सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) पृ. 262.
2. सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) पृ. 287.

5444 45

उन्नीसवीं सदी के भारतीय धर्म में एक होने की भावना के नष्ट हो जाने का कारण यह था कि उसमें किसी एक सर्वमान्य धर्मग्रन्थ का अभाव हो जाना तथा विश्व की सर्वोच्च शक्ति के स्वरूप के विषय में ऐकमत्य न होना था।

(2) मूर्ति पूजा :–

भारतीय धर्म की दुर्दशा अत्यन्त दयनीय होती जा रही थी। सर्वत्र धर्म के नाम पर अधर्म फैला हुआ था। सच्चे धर्म का लोप हो गया था। जिसके कारण मन्दिरों की स्थिति भी अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। मन्दिरों में पूजापाठ के स्थान पर अनेक प्रकार की कुरीतियाँ, भ्रष्टाचार तथा पाप–पाखण्ड होते थे। देववासी–प्रथा के कारण अनेक मन्दिरों में देवदासियाँ रखी जाती थीं। जिसके कारण मन्दिरों में शान्ति की जगह अशान्ति और धार्मिक पूजा की जगह दुराचार फैला हुआ था। पुजारियों के लिए मन्दिर केवल धन का साधन बन गये थे। उस समय साधु–संन्यासी वर्ग भी परद्रव्य, परनारी इत्यादि मादक द्रव्यों का सेवन करके अपनी साधनाविधि के कार्यों मे तत्पर रहते थे।[1]

"बौद्ध मतावलम्बियों के अनुकरण पर ही भारतीय धर्म में मूर्तिपूजा, अवतार, मठों एवं मन्दिरों की स्थापना तथा अनेक देवी–देवताओं की पूजा अर्चना आरम्भ हुई। कालान्तर में बौद्धों के ही सहजयान, वज्रयान और तंत्रयान आदि सम्प्रदायों के प्रभाव से इस पौराणिक धर्म में भी तंत्र–मंत्र पर आधारित अनेक प्रकार की साधनाएँ और क्रियाकलाप प्रचलित हो गये।"[2] विभिन्न सम्प्रदायों में पशुओं और मनुष्यों को मार कर उनकी बलि देने की प्रथा थी। उन्नीसवीं सदी में भारत में मरे हुए व्यक्तियों का तर्पण (श्राद्ध) करना भी प्रचलित था।

---

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ. 17
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ.16.

समाज में धर्म की उच्चतर स्थिति विद्वान् व्यक्तियों पर निर्भर करती है। किन्तु ब्राह्मण कुल के व्यक्ति ही उच्च पद पर होते थे। वे अपने पदों को वर्णागत आधार पर प्राप्त करते थे। वेद–विद्या एवं ज्ञान–विज्ञान की दृष्टि से भी वे पूर्णतः अपरिचित थे। जिस कारण वेदों के ज्ञान के बिना सत्य–असत्य, धर्म–अधर्म तथा कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य को जाना नहीं जा सकता था।

(3) अन्य अन्धविश्वास :–

समाज में धर्म के नाम पर व्यवसाय करने वाले पाखण्डी पण्डितों ने अनेक भ्रम फैला रखे थे। ब्राह्मण वर्ग चमत्कारों को दिखाते हुए जनता को ठग रहे थे। "जनसाधारण का ज्योतिषियों की वाणी, तीर्थयात्रा, व्रत और उपवास आदि पर अधिक विश्वास था।"[1] जनता के अशिक्षित होने का लाभ धूर्त एवं पाखण्डी उठा रहे थे। वे लोग भारतीय जनता में भूत–प्रेत और तन्त्र–मन्त्र आदि में विश्वास उत्पन्न करके अन्धविश्वासों को बढ़ावा दे रहे थे। इस प्रकार भारतीय समाज में धार्मिक आडम्बर प्रचलित हो गये थे।

महर्षि दयानन्द का भारतीय धार्मिक पुनर्जागरण के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा है। "उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया था कि बृहत्तर भारतीय धर्म तथा समाज के सर्वतोमुखी पतन का प्रमुख कारण यही है कि वह वैदिक तथा औपनिषदिक उपासना पद्धति को विस्तृत कर चुका है तथा मानव को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाली पातञ्जलयोग वर्णित साधना प्रणाली के स्थान पर प्रस्तर, धातु, वृक्ष, पर्वत, नदी, जल आदि जड़ पदार्थों को ही पराशक्ति या उसके प्रतीक समझ बैठा है तथा इन स्थूल पदार्थों के आगे माथा रंगड़ते–रगड़ते उसका चित्त भी नितान्त जड़ तथा स्थूल हो गया है।"[2] महर्षि ने परमेश्वर के स्थान पर किसी अन्य को पूजनीय मानने का निषेध इस प्रकार किया है–

---

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ. 562
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल, भारतीय, पृ. 562.

"जो अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं, वे अज्ञान और दुःख–सागर में डूबते हैं। संभूति जो कारण से उत्पन्न हुए कार्य–रूप भूमि आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव तथा मनुष्य आदि के शरीर की उपासना ब्रह्म के स्थान पर करते हैं, वे उस अन्धकार से भी अधिक अन्धकार अर्थात् महामूर्ख चिरकाल घोर दुःख–रूप नरक में गिर–कर महाक्लेश भोगते हैं।"[1]

महर्षि दयानन्द का "फलित ज्योतिष, हस्तरेखा–विज्ञान आदि में विश्वास नहीं था। जन्मपत्री दिखाने के विषय में उन्होंने कहा– 'जन्मपत्रं किमर्थं कर्मपत्रं श्रेष्ठम्' अर्थात् जन्मपत्र का कोई प्रयोजन नहीं है, कर्मपत्र ही श्रेष्ठ हैं। सूर्य–ग्रहण आदि के अवसर पर भोजन व जल ग्रहण न करने की बात का भी वे समर्थन नहीं करते थे। पितृर्पण व श्राद्ध का खण्डन करते हुए वे कहते थे कि श्राद्ध–तर्पण जीवित माता–पिता का करना चाहिए, मरे हुओं का नहीं।"[2] दयानन्द ने जहाँ भारतीय धर्म की सर्वमान्य मूर्तिपूजा, मृतक–श्राद्ध, पाखण्डों, अन्धविश्वासों, अवतारों के प्रति आस्था आदि प्रचलित अंध धारणाओं का खण्डन किया और वहीं निराकार एकेश्वरवाद का मण्डन भी किया।

दयानन्द मूलतः धार्मिक पुरुष होने के साथ–साथ धर्मोपदेष्टा, धर्मप्राचारक तथा धर्माचार्य भी थे। दयानन्द ने सत्य सनातन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना के लिए जनसमाज को वेद के वास्तविक रूप का परिज्ञान करवाया। "उन्होंने भारतीयों के सम्मुख यह विचार प्रस्तुत किया था कि वे वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानें, ओंकार नाम से विश्व की सर्वोच्च शक्ति (परमेश्वर) का स्मरण किया करें और गायत्री मन्त्र को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना व उपासना के लिए प्रयुक्त करें। ओम्, वेद और गायत्री के आधार पर भारतीय धर्म के सब सम्प्रदायों को एक सूत्र में संगठित किया जा सकता है, यह विचार क्रियात्मक है। उन्होंने वेदों को सब सत्य विद्याओं का ग्रन्थ प्रतिपादित कर उनके पठन–पाठन पर अत्यधिक बल दिया था और इस प्रकार भारतीय धर्म को एक ठोस

---

1. सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) पृ. 294.
2. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 214.

व सुदृढ़ आधार पर स्थापित करने का एक क्रियात्मक उपाय प्रस्तुत कर दिया था।"[1]

उपर्युक्त धार्मिक संशोधनों के अतिरिक्त दयानन्द ने अनेक बातें गप्प या मिथ्या कहीं थीं और उनके मत में इनके त्याग में ही मनुष्यों का हित है। तद्यथा– ब्रह्मवैवर्त आदि सब पुराण, मूर्तिपूजा, मकदारी वस्तुओं का सेवन, परस्त्रीगमन, चोरी, कपट, छल, अभिमान और असत्य भाषण आदि इन्हीं धारणाओं का वे अपने प्रवचनों में खंडन भी करते थे।

(ख) दयानन्द कालिक सामाजिक परिस्थितियाँ :–

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय धर्म के साथ–साथ समाज की दशा भी अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व होने के कारण भारतीय समाज अनेक सामाजिक कुरीतियों से पूर्णतया ग्रस्त था। उस समय भारतीय समाज में अज्ञान, अविद्या और अन्धकार के व्याप्त होने के कारण आर्ष ग्रन्थों के स्थान पर अनार्ष ग्रन्थ पढ़े जाते थे।

(1) लोकजीवन की विसंगतियाँ :–

भारतीय समाज जाति–भेद द्वारा सहस्रों जातियों व उपजातियों में विभक्त हो गया था। जिसका परिणाम था कि देशवासी किसी भी प्रकार के विदेशी आक्रमण तथा अन्य अत्याचारों का सामना करने में असमर्थ थे। जन्मना जाति के आधार पर, ऊँच–नीच की भावना पर आधारित स्पृश्यास्पृश्य का भाव तथा दलित एवं निम्न वर्ग पर अकल्पनीय अत्याचार आदि समाज के अंग बन गये थे। वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित समाज विभिन्न आन्तरिक विग्रहों का शिकार बन गया था। "उस समय ब्राह्मण ब्रह्म तेज से रहित, क्षत्रिय दौर्बल्य से पीड़ित, वैश्य धनहीन एवं शूद्र स्वार्थों से पूरित थे। जब तथाकथित द्विजातियों की स्थिति ही शोचनीय रही हो, तो शूद्रों के अधःपतन में कोई शंका नहीं थी।"[2] शूद्रों के वेदादि पढ़ने पर विरोध किया जाता था।

---

1. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 149.
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ. 17.

समाज में अछूतों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। ब्राह्मण, राजपूत आदि जातियाँ ऊँची मानी जाती थीं और उन्हें अपनी जाति का अभिमान होता था। "चमार, भंगी आदि नीच जातियाँ अस्पृश्य मानी जाती थी। उच्चवर्गीय भारतीयों के मध्य अछूत नहीं रह सकते थे। स्वर्ण कहे जाने वाले भारतीयों के कुओं से वे पानी नहीं भर सकते थे और न वे मन्दिरों में शुद्ध और पवित्र होकर देवता के चरणों में पुष्पांजलि अर्पित कर सकते थे। दक्षिण भारत में इससे भी हीन दशा थी। वहाँ उच्च जातियाँ नीच जातियों के स्पर्श ही नहीं, छाया तक से अपवित्र हो जाती थी।"[1] परन्तु उस युग में छूत–अछूत और ऊँच–नीच के भेद विद्यमान होने पर भी स्वयं दयानन्द ने नाई के हाथ से भोजन को सहर्ष स्वीकार किया था। शिक्षा का अधिकार भी उच्च वर्ग को ही प्राप्त था। उच्च वर्ग ने स्वभाषा को त्यागकर अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली को अपनाया था।

(2) महिलाओं की स्थिति :–

समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। "स्त्रीशूद्रोनाऽधीयताम्"[2] की काल्पनिक श्रुति पढ़कर स्त्रियों और शूद्रों के वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध लगाया जा चुका था। उनके वेदों के अध्ययन के अतिरिक्त सामान्य शिक्षा पर भी विरोध होता था। स्त्रियों को परदे में रखने का प्रचलन भी एक सामाजिक बुराई थी। विदेशी व विधर्मी जातियों के आक्रमणों के समय परदे की प्रथा का विकास हुआ। वैदिक युग में स्त्रियों को परदे में नहीं रखा जाता था, बल्कि स्त्रियों को पुरुषों के समान सभी अधिकार दिये जाते थे। वे सभी राज्य की सभाओं में भी भाग लेती थी। भारतीय समाज में परदा–प्रथा का प्रचलन प्रायः नारी के विकास में बाधा ही बना।

ब्रिटिश शासन के स्थापित होने के समय भारत के कुलीन परिवारों में सती–प्रथा विद्यमान थी। "पति के शव के साथ पत्नी को भी चिता पर आरूढ हो जाने की प्रथा

---

1. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन, विजेन्द्रपाल, सिंह, पृ. 69–70.
2. सत्यार्थप्रकाश (तृतीयसमुल्लास) पृ. 68.

को 'सती–प्रथा' कहा जाता है''[1] विधवाओं की दुर्दशा देखकर कुछ स्त्रियाँ जहाँ पति के मरने पर स्वयं ही जीवित जल जाती थीं परन्तु वहीं अन्य विधवाओं द्वारा इन्कार कर देने पर उनकी इच्छा के विरुद्ध बल का प्रयोग करके उन्हें सती हो जाने के लिए विवश किया जाता था। भारतीय समाज की इस बुराई को समाप्त करने के लिए कानून बनाया गया। इस प्रथा को रोकने के लिए राजा राममोहन राय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ''सन् 1829 में लार्ड बैंटिक ने कानून द्वारा सती–प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया और पुरातनपन्थी भारतीयों के विरोध के परिणामस्वरूप धीरे–धीरे यह प्रथा नष्ट हो गई।''[2]

(3) बालविवाह और दहेज–प्रथा :–

उन्नीसवी सदी में भारत में बालविवाह का प्रचलन था। छोटी–छोटी कन्याओं का अल्पायु में ही विवाह कर देना उचित समझा जाता था। ''बालविवाह व अनमेल–विवाह का दुष्परिणाम था कि वयस्क अवस्था तक पहुँचने तक अधिकांश स्त्रियाँ विधवाएं हो जाया करती थीं। इन विधवाओं की शोचनीय स्थिति भारतीय समाज पर एक कलंक थी। इन्हें पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थीं, जबकि पुरुष एक से अधिक विवाह कर सकते थे। अपनी अज्ञानता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, अवयस्क मातृत्वएवं वैधव्य के बोझ से दबी स्त्रिया पुरुषों की दासी मात्र थी''[3] विधवाओं को समाज में सम्मानपूर्वक नहीं देखा जाता था। उनके सिर के बाल मुंडवा देना, उन्हें किसी भी समारोह में न जाने देना और उनकी परछाई से भी दूर भागना इत्यादि उनके लिए समाज के सारे द्वार बन्द थे। आजीवन वैधव्य होना उनके लिए अभिशाप हो गया था। जो उनकी दुर्दशा का कारण बन गया था।

---

1. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 157.
2. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 158.
3. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन, विजेन्द्रपाल सिंह, पृ. 78.

बालविवाह के साथ–साथ दहेज–प्रथा[1] भी स्त्रियों का दुर्दशा का कारण बन गई थी। जिसके कारण कन्या के माता–पिता को विवाह में अधिक से अधिक धन देना पड़ता था। दहेज से मुक्त होने के लिए कन्या का जन्म होते ही उसे मार दिया जाता था।

(4) नशा :–

भारतीय समाज में अत्यधिक श्रद्धा एवं सत्कार द्वारा सम्मानित साधु संन्यासी वर्ग भी अविद्या एवं अज्ञानग्रस्त होकर, अहंकार में चूर भंग, गांजा, अफीम और मदिरा जैसे मादक द्रव्यों का सेवन करने के कारण कलुषित हो चुका था। "जिस समाज के अग्रगन्ता ब्राह्मण और संन्यासी ही जब स्वकर्त्तव्यों को विस्मृत की पापाचरण में प्रवृत्त हो जायें, तब सामान्य लोगों की तो बात ही क्या? ऐसा लगता था कि मानो समस्त समाज ही अज्ञानान्धकार में इधर–उधर भटक रहा है। जब समाज के मार्गदर्शक एवं नेता कहलाने वाले व्यक्ति ही दिग्भ्रम होकर पथभ्रष्ट हो चुके थे, तो अनुयायियों के लिए भी 'अंधैनैव नीयमाना यथान्धाः' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए सर्वनाश की ओर अग्रसर होने के अतिरिक्त और कोई उपाय शेष नहीं रहा था।"[2]

उन्नीसवीं सदी में समाज सुधार के जो अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए है, वे भारतीयों की सामाजिक परिस्थितियों में विशेष परिवर्तन नहीं कर सके। जो सुधार आन्दोलन सफल नहीं हुए, उसका एक कारण यह भी था कि इनके प्रवर्तकों ने सामाजिक कुरीतियों के निवारण के लिए धर्मग्रन्थों का सहारा नहीं लिया था। परन्तु महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इन बुराईयों को समाज से दूर करने के लिए वेद–शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि वे बातें न धर्मानुकूल हैं और न ही शास्त्रसम्मत हैं। यही कारण है कि उन्होंने समस्त कुप्रथाओं का विरोध किया और वे भारतीयों में सामाजिक सुधार करने में अधिक सफल हुए।

---

1. भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन, विजेल्द्रपाल सिंह, पृ. 80.
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ. 17.

महर्षि दयानन्द ने समाज में व्याप्त बुराईयों, मूर्खतापूर्ण रीतिरिवाजों, पुरातन प्रथाओं, शोषण तथा अत्याचार को नष्ट करने के लिए सतत प्रयत्न किये। वे जातपाँत के कट्टर विरोधी थे। वे वैदिक प्रणाली में स्वीकृत वर्णाश्रम–विधान को मान्यता देते थे। वे वर्ण–व्यवस्था को गुण, कर्म और स्वभाव पर आधारित स्वरूप को ही समर्थन देते थे। उन्होंने नारी जाति को समाज में उच्चतर स्थिति प्रदान कराने के लिए अनेक सुधार किये। वे शास्त्र–रीति से स्त्री–जाति को स्वातन्त्र्य देना और उन्हें वेदाधिकार प्रदान करना आवश्यक समझते थे। उन्होंने नारी जाति का सार्वत्रिक उत्थान करते हुए बालविवाह निषेध, सती–प्रथा का विरोध और विधवाओं के पुनर्विवाह की उद्घोषणा की। दयानन्द ने समाज का उद्धार करते हुए दलित एवं अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों को उनका अधिकार दिलाने से भारतीय समाज को जागृत किया। इस प्रकार महर्षि दयानन्द का समाज सुधार के कार्यक्षेत्र में अपना योगदान देना राष्ट्र के कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(घ) दयानन्दकालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ :–

प्राचीनकाल से ही भारत में राजनैतिक पराधीनता विद्यमान् थी। शताब्दियों की राननैतिक पराधीनता द्वारा भारतीय समाज का अनेक प्रकार से शोषण हुआ है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही पर्शियन, यवनों, शकों, कुशाणों, हूणों इत्यादि मध्यकाल के तुर्क–अफगानों और मुगलों ने भारत के अनेक भागों को जीत कर लम्बे समय तक अपना शासन किया।

उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में भारत की जो राजनैतिक परिस्थिति थी, इतिहास में वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। उस युग में देश की सामाजिक और धार्मिक दशा ठीक न होने के कारण इस देश के वासी किसी भी अन्य देश के आक्रमणों का सामना करने में असमर्थ थे। उस अन्धकारमय–युग में भारत में पश्चिमी जातियों का आगमन हुआ। भारत के धन–धान्य तथा अन्य वाणिंज्यक सुविधाओं के आकर्षण द्वारा ही अन्य

यूरोपीय जातियाँ भी इस देश में अपना व्यवसाय करने आई। धीरे–धीरे अंग्रेजों को व्यापार करने के साथ–साथ अपनी बस्तियों में शासन करने के अधिकार भी प्राप्त हो गये। व्यापार करने के साथ ही उन विदेशी जातियों में राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा भी जागृत हो गई थीं। साम्राजय प्रसार की नीति पर चलते हुए गौराङ्ग वणिकों ने भारत में अपना शासन स्थापित करने के लिए युद्ध की घोषणा कर दी। उस समय तक मुगल साम्राज्य की शक्ति भी क्षीण हो गई थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् 1757 ई. में प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय हुई।[1]

प्लासी के युद्ध के द्वारा भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। "बंगाल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभुत्व में आ गया था। अंग्रेजों ने अपनी विजय के लिये भारतीय सैनिकों का ही उपयोग किया था। उन्होंने अनेक छोटे–बड़े पुराने राजवंशों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर दिया था और अन्य स्वदेशी राजाओं ने अंग्रेजों की अधीनता को स्वीकार कर लिया था। अब इस देश का कोई भी भाग स्वतन्त्र नहीं था और न ही कोई राजशक्ति अंग्रेंजों का सामना करने में समर्थ थी। सन् 1757 से सन् 1849 तक एक सदी का काल अंग्रेजों को भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के संघर्ष में लगाना पड़ा। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारत में अंग्रेजी शासन की नींव भलीभाति दृढ़ हो गई थी।"[2]

राजसत्ता विदेशियों के हाथ में चले जाने पर भारतीयों में बहुत असन्तोष प्रकट हुआ। स्वयं दयानन्द के हृदय में राष्ट्रवाद के प्रखर भाव उस समय उत्पन्न हुए जब उन्होंने देखा कि– "जोदेश किसी समय स्वर्णभूमि के नाम से जाना जाता था, आज देशवासियों की पारस्परिक फूट, आलस्य एवं प्रमाद के कारण पराधीनता के कठोर पाशों मे बाँधा जाकर सर्वतोमुखी पतन की अवस्था को प्राप्त हो चुका है।"[3]

---

2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाला भारतीय, पृ. 11.
1. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और नया संविधान, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 18.
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, 572.

अंग्रेजों का भारतीय कर्मचारियों के साथ बुरा व्यवहार हो रहा था। "भारत की ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को उच्च नौकरियों से वंचित रखा हुआ था। उच्च पदों पर केवल अंग्रेजों अथवा यूरोपियनों को ही नियुक्त किया जाता था। यद्यपि सन् 1833 ई. के ऐक्ट में कहा गया था कि उच्च नौकरियाँ देते समय जाति, धर्म अथवा रंग आदि का कोई भेदभाव नहीं रखा जायेगा, तथापि भारतीयों को इस ऐक्ट के पास होने के पश्चात् भी उच्च पदों से वंचित रखा गया।

सम्पूर्ण राजतन्त्र भ्रष्टाचार का केन्द्र बन गया था। अंग्रेजों द्वारा चारों ओर से भारत देश का शोषण किया जा रहा था। भारत देश में दोहरी शासन पद्धति थी और जनता प्रायः आतंक से भयभीत रहती थी। अंग्रेजी शासन में भारतीय सैनिकों की स्थिति भी बिगड़ चुकी थी। भारतीय सैनिक कर्मचारियों को यूरोपियन कर्मचारियों से हीन समझा जाता था। भारतीय सैनिकों को वेतन भी कम दिया जाता था।

"प्लासी के यद्ध के बाद सन् 1857 ई.में भारत ने विदेशी शासन से स्वाधीन होने के लिए एक ओर प्रयास किया। स्वाधीनता के इस प्रथम संग्राम में नाना साहब, झांसी की रानी, तात्या टोपे, कुंवरसिंह, अजीमुल्ला खाँ तथा अहमदशाह मौलवी जैसे नेता शामिल हुए थे। परन्तु राजपूत, सिक्ख तथा गोरखों द्वारा अंग्रेजों की सहायता करने के साथ राष्ट्रीय एकता की भावना के अविकसित होने और युद्धनीति के भी उन्नत न होने इत्यादि अनेक कारणों से सन् 1857 का यह विद्रोह भी सफल नहीं हो सका। दिल्ली के अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह जफर को पकड़ कर,उसे शेष जीवन रंगून में व्यतीत करने के लिए भेज दिया गया।"[1] इस विद्रोह से मुगल वंश की समाप्ति हो गई।

सन् 1857 की असफल क्रान्ति के पश्चात् स्वराज्य का स्वरूप प्रस्तुत करने के आदि प्रवक्ता स्वामी दयानन्द ही थे। उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ में लिखा है– "आर्यावर्त्त

---

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ.त्र 11–12.

में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, वो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा की स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह ही सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत–मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[1]

अंग्रेजों ने भारतीयों के विद्रोह को अपने नियन्त्रण में करने के लिये उनका अधिक से अधिक शोषण करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने निर्दोष जनता पर अनेक अत्याचार किये। सन् 1857 के विद्रोह के बाद भारत मे अंग्रेजी शासन पहले से और भी अधिक सुदृढ हो गया था। अंग्रेजी प्रशासक यह भी जानते थे कि भारतीयों को अधिक समय तक पराधीन रखना सम्भव नहीं है।" "फलतः इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत के शासन को अपने हाथों में लेकर इस देश का शासनाधिकार ब्रिटिश पार्लियामैन्ट को सौंप दिया। सन् 1858 में प्रचारित महारानी के घोषणापत्र में जहाँ कम्पनी के शासन के समाप्त होने की घोषणा थी, वहाँ भारतीय जनता के धार्मिक अधिकारों की पूर्ण सुरक्षा व लोगों की पूजा पद्धतियों तथा वैयक्तिक मत विश्वासों में शासन द्वारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न किये जाने का आश्वासन भी था। इंग्लैण्ड में बैठे कम्पनी के डाइरेक्टरों को स्थानीय परिस्थितियों से पूर्णतया अनभिज्ञ रखकर भारत के गवर्नर जनरलों ने निरंकुश दमन, प्रजा पीड़न तथा आर्थिक शोषण के जिस दुष्चक्र को सतत प्रवहमान कर रखा था, वह थोड़ी देर के लिए रुक गया। भारत के गवर्नर जनरल को अंग्रेजी पार्लियामैन्ट के समक्ष उत्तरदायी होना पड़ता था। राजनैतिक स्थिरता का भी आभास होने लगा था, क्योंकि सिक्खों राजपूतों तथा

---

1. सत्यार्थप्रकाश (अष्टमसमुल्लास) पृ. 213.

मराठों ने भी वस्तुस्थिति को पहचान कर अंग्रेजी सरकार से कई अलग–अलग समझौते कर लिये थे।"[1]

राजनैतिक शान्ति स्थापित हो जाने के बाद ब्रिटिश शासकों का विचार भारतीयों को पाश्चात्य रीति में दीक्षित कर अंग्रेजी साम्राज्य को सदा के लिए स्थापित रखने का हुआ। अतः अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षापद्धति का प्रचलन किया। "भारत में विदेशी शिक्षा नीति को प्रचलित करने वाले लार्ड मैकॉले समझे जाते हैं। यद्यपि उनके भारत आने से पहले भी यहाँ अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के अनेक विद्यालय खुल गये थे, परन्तु उनके शिक्षण ने भारतीयों को पाश्चात्य जीवन प्रणाली का अंध अनुगामी बना दिया। इस शिक्षा का उद्देश्य यह था कि जो रंग और आकृति से भारतीय ही हो, किन्तु विचार, वाणी तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज कहलाये। औद्योगिक क्रान्ति के कारण यूरोप में जो अनेक परिवर्तन हुए थे, उनका प्रभाव भारत देश पर भी हुआ। ज्ञान–विज्ञान से सम्बन्धित नूतन आविष्कार,समाचारपत्रों का प्रकाशन, तार, डॉक, रेलवे इत्यादि यातायात के साधनों का भारत में प्रचलन होने लगा था।"[2] इन सुविधाओं के कारण जहाँ जन–जीवन सुलभ हो गया था, वहाँ उनमें पाश्चात्य जीवन पद्धति के प्रति आदर और सम्पूर्ण देश में एकता की भावनाएँ भी जागृत हुई।

राजनैतिक दृष्टि से सुदृढ़ हो जाने पर अंग्रेज शासकों का अन्य बातों पर भी ध्यान गया था। औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों को अपने माल को बेचने के लिए बाजारों और कारखानों के लिए कच्चा माल खरीदने की आवश्यकता पड़ी। अतः अंग्रेजों ने इंग्लैंड में बनी हुई वस्तुओं को अधिक कीमत पर बेचने और 103कच्चे माल को सस्ती कीमत पर खरीदने के लिए भारत में यह नीति अपनाई। उन्होंने इंग्लैण्ड के व्यापार तथा उद्योगों की उन्नति के लिए भारत के गृह–उद्योगों को

---

1. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ. 12.
2. नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती, भवानीलाल भारतीय, पृ. 12–13.

नष्ट कर दिया था। जिसके कारण भारत के लोगों में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया और विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिला। दयानन्द राजनैतिक कुटिलता का वर्णन इस प्रकार करते हैं– "देखो! अपने देश के बने हुए जूतों को आफिस और कचहरी मे जाने देते हैं, इस देशी जूते को नहीं, इतने में ही समझ लो कि अपने देश में बने हुए जूतों का कितना मान व प्रतिष्ठा करते हैं, उतना अन्य देशस्थ मनुष्यों का भी नहीं करते।"[1]

उस समय कर–व्यवस्था लागू किये जाने पर दरिद्रों का अत्यधिक शोषण हो रहा था। "जनता की अनेक आवश्यक वस्तुओं में नमक जैसे पदार्थों पर भी 'कर' लगा दिया गया था। जनता पर दिन–प्रतिदिन नए 'कर' लगाये जा रहे थे। भारत सरकार के खुले व्यापार की नीति देश के विकास के मार्ग में बाधक थीं भारतीयो की आर्थिक अवस्था ब्रिटिश शासन के अधीन बिगड़ चुकी थी। चार करोड़ भारतीयों को केवल दिन में एक बार खाना खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता था। इसका एक मात्र कारण यह था कि इंग्लैंड भूखे किसानों से बलपूर्वक 'कर' प्राप्त करता था तथा वहाँ अपना माल भेज कर लाभ कमाता था।"[2]

भारतीय धर्म और संस्कृति पर पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता द्वारा तीक्ष्ण प्रहार किया गया। अंग्रेजी शासक भारतीय पुरातन धर्म की मान्यताओं और आस्थाओं को भी समाप्त कर देना चाहते थे। उन्होंने ईसाई धर्म को अपनाने का प्रचार किया और भारतीय धर्म की कठोर आलोचना की। मुसलमानों द्वारा भी भारतीय धर्म पर आक्रमण किये गये। अंग्रेजों ने भारतीयों और मुसलमानों में फूट डाली, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे एक–दूसरे के विरुद्ध विरोध करने लगे।

---

1. सत्यार्थप्रकाश (एकादशसमुल्लास) पृ. 359.
1. ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास, आर.आर. सेठी, पृ. 379.

ब्रिटिश पार्लियामेंन्ट के शासनाधिकार द्वारा भी भारतीयों का शोषण हो रहा था। अंग्रेजी सरकार द्वारा निरकुशता से शासन किया जा रहा था। उनके शासन द्वारा भारतीयों को ज्यादा लाभ नहीं हुआ। भारतीयों के समक्ष राष्ट्रीय उन्नति, राष्ट्रीय भावना, स्वराज्य, स्वदेश और स्वभाषा का अभाव अभी भी विद्यमान था।

भारत की राजनैतिक पराधीनता और दुर्दशा को दयानन्द ने ही अनुभव किया था। वे केवल धर्म और समाज सुधारक ही नहीं थे, बल्कि एक उच्चकोटि के राजनैतिक चिन्तक भी थे। विदेशियों द्वारा भारत को पराधीन बनाये जाने पर दयानन्द के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने ही सबसे पूर्व राजनैतिक दुर्दशा के कारणों को जानकर उनके उपाय प्रस्तुत किये थे। वास्तव में उन्होंने राष्ट्रियता के अभाव को ही भारत को पराधीन बनाने में मुख्य कारण माना था। देश में राष्ट्रीय एकता के न होने के कारण ही सब विद्रोह असफल रहे। "विदेशी शासन का अन्त कर भारत में 'स्वराज्य' की स्थापना होनी चाहिए, यह आवाज सबसे पूर्व दयानन्द ने ही बुलन्द की थी। उन्होंने यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया था कि– 'सुशासन' कभी 'स्वशासन' का स्थान नहीं ले सकता।"[1] दयानन्द के 'पुनः वेदों की ओर लोटो' और 'भारत भारतीयों के लिये' आदि नारों ने भारतीय लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिए तैयार किया था।[2] उन्होंने भारतीयों को स्वराज्य के साथ–साथ स्वदेशी वस्तुएं अपनाने को कहा।

भारतीय राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान के लिए दयानन्द ने अनेक विचार व्यक्त किये। उन्होंने देशवासियों को स्वभाषा, स्वधर्म एवं स्वसंस्कृति को अपनाने की शिक्षा दी। वे जानते थे कि जब तक देशवासी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टि से सबल, संगठित तथा एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये दृढ़ संकल्प से युक्त नहीं होंगे, तब तक उनके लिये स्वाधीनता प्राप्त करना भी सम्भव नहीं होगा। अन्ततः उन्होंने अपने राष्ट्र के लिए उच्चकोटि का राजनैतिक ज्ञान प्रदान किया है।

---

1. भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और नया संविधान, सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 23.
2. भारत का इतिहास, अविनाश चन्द्र, पृ. 191.

3.2. भारत–स्वतन्त्रता के प्रेरक ऋषि दयानन्द :–

महर्षि दयानन्द ने स्वराज्य एवं देश की उन्नति के लिए अविस्मरणीय कार्य किए। उनका जीवन और चिन्तन राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत था। महर्षि दयानन्द सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय विचारों एवं स्वराज्य के जन्मदाता थे। भारतीय राष्ट्रीय क्रांग्रेस की स्थापना से पूर्व ही महर्षि ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की और 'सत्यार्थ' प्रकाश नामक महान् चिन्तन ग्रन्थ की रचना की। गुरु विरजानन्द दण्डी स्वामी से शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जब वे कार्यक्षेत्र मे उतरे तो लोगों ने उनसे उनके जन्म स्थान के विषय में जानना चाहा, परन्तु इस विषय को वे अनदेखा करते रहे। क्योंकि वे इस बात से डरते थे कि पिता जी कहीं उन्हें पकड़ कर फिर से न ले जाएं और उन्होंने जिस कार्य देश का सुधार और धर्म प्रचार के लिए अपना सर्वस्व त्याग किया, वह कार्य अधूरा न रह जाए। स्वामी विरजानन्द से दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व भी एक बार जब ओखी मठ के महन्त ने उन्हें अपने मन्दिर का महाधीश बनाने की, पेशकश की थी तो दयानन्द ने उसके प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा कि– "यदि मुझे धन की चाह होती तो मैं अपने पिता की सम्पति जो तुम्हारे इस स्थान और धन–दौलत से कहीं बढ़कर है, न छोड़ता।" फिर महन्त के पूछने पर वे अपना ध्येय बलाते हैं– "मैं बराबर अपने देश वालों का उपकार जो मनुष्य पर कर्त्तव्य है, करता रहूंगा।"[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ से ही महर्षि दयानन्द के हृदय में देश के प्रति तड़प थी।

अनेक महापुरुषों ने महर्षि दयानन्द द्वारा देश की स्वतन्त्रता के प्रयत्नों का उल्लेख किया है। प्रशान्त वेदालंकार लिखते हैं– "डी बैब्ले के अनुसार वर्तमान स्वतन्त्र भारत की वास्तविक आधारशिला दयानन्द ने रखी थी। रोम्यांरोला का कथन है कि राष्ट्रीय पुनर्जागरण में, जो इस समय दीख पड़ रहा है, दयानन्द ने प्रबल शक्ति के रूप में कार्य किया। थियोसोफिकल सोसायटी की मैडम ब्लैवत्स्की ने कहा था– महर्षि दयानन्द ने ही सर्वप्रथम नारा लगाया था कि भारत भारतीयों का है। सर बैलजटाइन

---

1. प्रशान्त वेदालंकार, महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था। पृ. 102.

चिरौल के अनुसार महर्षि दयानन्द के उपदेश हिन्दओं में सुधारने के लिए न होकर केवल भारत में विदेशी प्रभाव का विरोध करने के लिए हैं।[1] दादा भाई नैरोजी ने सन् 1904 में कहा– मैंने स्वराज्य शब्द सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों से सीखा।"[2] इन कथनों से स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र भारत की आधारशिला रखने वाले महर्षि दयानन्द ही थे।

गुरु विरजानन्द से देशोन्नति की शिक्षा :–

14 नवम्बर 1860 ईस्वी को महर्षि दयानन्द ने संन्यासी प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द दण्डी का शिष्यत्व धारण किया। यहाँ पर व्याकरण एवं आर्य ग्रन्थों के गहन अध्ययन के साथ–साथ दोनों में देश की दशा पर भी संवाद होता रहता था। शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् जब दयानन्द ने गुरु को दक्षिणा देनी चाही तो गुरु ने कहा– "वत्स भारत देश में दीन–हीन अनेकविध दुःख पा रहे हैं और मतमतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं, जाओ, उनका निवारण करो। आर्य जनता की बिगड़ी दशा सुधारो। गुरु दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो।[3] यहीं से महर्षि ने देश की दशा को सुधारने का बीड़ा उठा गुरु से विदा ली और अपने जीवन के शेष वर्षों में देश की स्वतन्त्रता की भावना का दीप जलाया। 17 मार्च 1883 ईस्वी को समर्थदान को पत्र लिखते हुए महर्षि कहते हैं– "देश की उन्नति जहाँ तक बन सकेगा, आगमन करता रहूँगा ही पुनर्जन्मान्तर में भी।"[4] अन्यत्र भी वे कहते हैं मेरी आँखें उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब कश्मीर से कन्याकुमारी तथा अटक से कटक तक आर्यों का एक छत्र राज्य स्थापित होगा।"[5]

---

1. महर्षि दयानन्द, इन्द्र विद्यावाचस्पति, पृ. 160–166.
2. प्रशान्त वेदालंकार, महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था, पृ. 103.
3. श्री मद्दयानन्द प्रकाश, पृ. 87.
4. सम्पादक पं0 भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ.395.
5. श्री मद्दयानन्द प्रकाश, पृ. 388.

महर्षि दयानन्द तत्कालीन देश की दशा को देखकर अत्यधिक द्रवित हो उठते थे। एक दिन बैठे–बैठे अकस्मात् ही टहलने लगे तो एक भक्त ने विस्मयपूर्वक पूछा कि महाराज को क्या कोई वेदना हो रही है? इसके उत्तर में महर्षि ने कहा– भाई इससे अधिक हृदय विदारक दारूण वेदना और क्या हो सकती है कि विधवाओं की दुःख भरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्तनाद से और गोवध से देश का सर्वनाश हो रहा है।"[1] सन् 1869 ई. मे कैलाश बैकुण्ठ नामक मन्दिरों को देखकर उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों से महर्षि ने कहा "अपने लाखों रूपए लगा कर मन्दिर खड़े किए हैं, परन्तु यह तो बताइए इससे लाभ क्या हुआ है? अनधिकारियों को खिला–पिला कर ईट पत्थर में व्यय करके आपने इतना रूपयों ही खो दिया है। अच्छा होता यदि वह द्रव्य जाति और देश के भले में लगता।..... देश में शिल्प का अभाव है। उस द्रव्य से आप यदि एक शिल्पकला स्थापित करते तो कितना भारी लोकहित होता।"[2] महर्षि दयानन्द के उक्त विचारों से ज्ञात होता है कि देश के प्रति उनके हृदय में कितना दर्द छिपा हुआ था। वे देश की दशा से अत्यधिक दुःखी होकर कई बार खाना तक छोड़कर चल देते थे।[3] एक बार एक तिलकधारी ब्राह्मण के द्वारा कुशल पूछने पर उन्होंने कहा– "हमें कुशल कहाँ, इससे बढ़कर खेद और क्या हो सकता है कि ब्राह्मण अपने कर्त्तव्य कर्मों से कोसों दूर हैं। बाहरी आडम्बर और पाखण्ड से अधिक प्यार करते हैं। धर्म प्रचार का उन्हें ध्यान तक नहीं। आर्य सन्तान की दीन–हीन दशा पर इनको टुक दया नहीं आती।"[4] इस प्रकार की घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि देश की दुर्दशा को देखकर उनका हृदय रो उठा था और तब से ही उन्होंने देश को उन्नत् एवं स्वतन्त्र करने का निश्चय किया।

---

1. श्रीमद्दयानन्द–प्रकाश, पृ. 385.
2. वही पृ. 153.
3. वही, पृ. 41.
4. वही, पृ. 373.

महर्षि दयानन्द ने देश की स्वतन्त्रता व उन्नति के लिए 10 अप्रैल 1875 ई. को 'आर्यसमाज' की स्थापना की। इस समाज के लिए बनाए गए 28 नियमों में 17वें नियम में कहा गया है कि इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया जाएगा– एक प्रमार्थ, दूसरा व्यवहार। इन दोनों का शोधन तथा समस्त संसार की उन्नति की जाएगी। 11वें नियम के अनुसार आर्यसमाज में केवल सिद्धान्तों पर ही विचार न होगा, अपितु उसके व्यवहारिक प्रयोग पर भी विचार किया जाएगा। उसी व्यवहारिक प्रयोग का ही परिणाम था कि महर्षि ने जहाँ भी आर्यसमाज की स्थापना की वहीं पर ही ईसाइयत का बढ़ता प्रचार रूक गया। नवयुवकों ने पादरियों से कह दिया कि अब हमें आपके धर्म में कोई ऐसी विशेषता दिखाई नहीं देती जिसके लिए हम अपने पुरातन धर्म का परित्याग करें।[1] महर्षि दयानन्द ने लड़कियों को मुसलमान होने से बचाया और अछूतों का उद्धार किया। महर्षि की मृत्यु के पश्चात् भी आर्यसमाज ने देश की स्वतन्त्रता में महान् योगेदान दिया, एवं महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक स्वतन्त्रता–प्रेमियों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए अपना बलिदान किया।[2]

अतः हम कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द ने सभी धर्मों एवं सम्प्रदाओं में एकता कर सबको देश की उन्नति की प्रेरणा दी। महर्षि के इन प्रयत्नों से राष्ट्र को एक नई दिशा मिली, और देश में नवजागरण की एक लहर–सी आ गई।

3.3. भारतीय राष्ट्रवाद का पुनरुत्थान :–

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का समय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस शताब्दी में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टियों से अनेक उल्लेखनीय कार्य हुए। ब्रिटिश शासन की जड़ पूरी तरह इसी शताब्दी में जमी और सन्

---

1. श्रीमद्दयानन्द प्रकाश, पृ. 179.
2. प्रशान्त वेदालंकार, महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य व्यवस्था, पृ. 111.

1857 का स्वतन्त्रता संघर्ष भी इसी शताब्दी में हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कारोबार पूरी तरह भारत में सफलतापूर्वक फैला और कम्पनी का शासन समाप्त होकर ब्रिटिश सरकार की शासन व्यवस्था इसी शताब्दी में प्रारम्भ हुई। मुगल साम्राज्य का क्षय तो अठारहवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में वह पूरी तरह समाप्त हो गया। ब्रिटिश शासन के स्थापित होने पर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की छाप भारतीयों पर पड़ने लगी। ईसाई मिशनरी अपना प्रचार जाल फैलाकर भारतीयों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने में पूरी तरह जुट गये थे। एक प्रकार का सांस्कृतिक आक्रमण इस शताब्दी में हुआ जिसे भारतीय जनता न तो पूरी तरह समझ सकी थी और न उसका प्रतिरोध करने की शक्ति जुटा सकी थी। जन–जागरण के कुछ प्रयास अवश्य हुए थे जिन्हें पुनर्जागरण (रेंनेसा) नाम से इतिहास में अंकित किया गया है।

इस पुनर्जागरण में बंगाल के समाज सुधारकों का योगदान इतिहास लेखकों ने रेखांकित किया है। बंगाल के प्रसिद्ध समाज सुधारक नेता श्री राजा राममोहनराय तो अपने सामाजिक कार्यों के लिए विश्व विश्रुत है। उनके साथ ही महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर केशव सेन, ईश्वरचन्द्र, विद्यासागर आदि का नाम आता है। इसी शताब्दी में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द का नाम अपने धर्मिक चिन्तन के लिए अविस्मरणीय है। ये सभी महापुरुष बंगाल में उत्पन्न हुए और उनका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण भारत न होकर बंगाल प्रान्त तक ही सीमित रहा, फिर भी भारतीय पुनर्जागरण का श्रेय इन महानुभावों को दिया जाता रहा है।1

इसी शताब्दी में महर्षि दयानन्द राष्ट्रवाद के प्रतिष्ठाता के रूप में भारत के क्षितिज पर उदित हुए। उस समय अंग्रेजों का शासन बद्धमूल हो चुका था। भारतीय जनता अंग्रेजों से आंतकित थी। सन् 1857 के स्वतन्त्रता संघर्ष के बाद अंग्रेज निर्दयता

---

1. सम्पादक– डॉ0 योगेश्वर देव, दीपचन्द्र निर्मोही, धर्म और संस्कृति, पृ. 365.

पूर्वक भारतीयों की भावनाओं को कुचलने में संलग्न थे। ऐसी विषम परिस्थति में महर्षि दयानन्द भारत की जनता को जगाने आये थे। उनके सामने अंधविश्वासों और पाखण्डों से जूझने की प्रमुख समस्या थी। लेकिन राज़नीतिक दृष्टि से परतन्त्र भारत को विदेशी शासन के सांस्कृतिक आक्रमण से बचाने का भी प्रश्न था। इस सांस्कृतिक आक्रमण को महर्षि ने पूरी तरह समझ लिया था और वे समझ गये थे कि सामाजिक सुधार कार्यों के साथ देश की जनता को सांस्कृतिक स्तर पर भी जगाना और चेताना होगा अन्यथा यह देश अपनी सांस्कृतिक विरासत से विमुख हो जाएगा और अस्मिताविहीन होकर अपनी परम्पराओं को विस्मृत कर बैठेगा। यह कार्य पुनर्ज़ागरण के प्रवर्तन का श्रेय लेने वाले बंगाली सुधारकों के मस्तिष्क में नहीं आया था।

उस समय महर्षि दयानन्द ने भारतीय राष्ट्रवाद के पुनरुत्थान का दिशा निर्देश किया था,[1] जबकि भारत के सार्वजनिक जीवन में इसकी कोई चर्चा ही नहीं थी। स्वदेश की आजादी के लिये वे कितने उत्सुक थे, यह तो उनकी प्रार्थनापरक पुस्तक में व्यक्त किये गये विचारों से ही ज्ञात होता हैं जहाँ वे परमात्मा से भी अपने देश की स्वाधीनता की ही याचना करते हैं। सुराज्य की अपेक्षा स्वराज्य कहीं अधिक वरणीय है तथा श्रेष्ठ है, इस तथ्य की घोषणा करते हुए महर्षि कहते हैं कि "कोई कितना ही करे, किन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य, पुत्र पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[2] दयानन्द के इस अमर वाक्य मे निहित व्यंजना को समझना आवश्यक है।

---

1. सम्पादक डॉ0 भवानीलाल भारतीय,
   स्वामी दयानन्द सरस्वती, व्यक्तित्व, विचार और मूल्यांकन, पृ. 130.
2. दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश अष्टाम समुल्लास, पृ. 213.

महर्षि दयानन्द के हृदय में राष्ट्रवाद के प्रखर भाव उस समय उत्पन्न हुए, जब उन्होंने देखा कि जो देश किसी समय स्वर्ण भूमि के नाम से जाना जाता था, आज देशवासियों की पारस्परिक फूट, आलस्य एवं प्रमाद के कारण पराधीनता के कठोर पाशों में बांधा जाकर सर्वतोमुखी पतन की अवस्था को प्राप्त हो चुका है। धीरे–धीरे वे राष्ट्र को लगे रोग तथा उसको दूर करने के उपचारों के बारे में सोचने लगे। अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक राष्ट्र के स्वाभिमान, स्वदेश के गौरव एवं अस्मिता को जागृत नहीं किया जायेगा तब तक हमारी कठिनाइयों का समाधान भी नहीं होगा। इसी दृष्टि से उन्होंने अपनी स्पष्ट सम्मति व्यक्त करते हुए कहा कि जब तक समस्त देशवासी एक भाषा, एक भाव, एक विचारधारा और समान कर्त्तव्यबोध को धारण नहीं कर लेंगे तब तक राष्ट्र की एकता, समृद्धि तथा प्रगति स्वप्न के तुल्य ही रहेगी। दयानन्द ने अपने उपदेशों में स्वदेशी के गौरव को स्थापित किया, स्वभाषा के प्रयोग पर बल दिया, स्वयं के आचरण द्वारा सत्याग्रह के मार्ग को प्रशस्त किया तथा स्वधर्म एवं स्वसंस्कृति पर गर्व करने की शिक्षा दी। महर्षि दयानन्द सक्रिय राजनीति से सर्वथा तटस्थ एवं असंपृक्त ही रहे। वे जानते थे कि जब तक देशवासी सामाजिक दृष्टि से सबल,संगठित तथा एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के दृढ़ संकल्प से युक्त नहीं हो जायेगे, तब तक उनके लिये स्वाधीनता प्राप्त करना भी सम्भव नहीं होगा। अतः वे एक उपदेष्टा ब्राह्मण तथा संन्यासी की भांति लोगों को अपनी बुराइयों को छोड़ने तथा सही अर्थों में स्वराज्य के पात्र बनने की प्रेरणा देते रहे।[1]

ब्रिटिश सरकार जब हिन्दू समाज में व्याप्त नाना बुराइयों और कुरीतियों को समाप्त करने के लिए कानून बनाने लगी, तो देश के नेताओं के एक वर्ग की ओर से यह आपत्ति की गई थी कि भारतवासियों और विशेषतः हिन्दुओं के पारिवारिक तथा

---

1. सम्पादक, डॉ0 भवानीलाल भारतीय,
स्वामी दयानंन्द सरस्वती व्यक्तित्व , विचार और मूल्यांकन, पृ. 131.

सामाजिक परिवर्तनों एवं सुधारों के लिये विदेशी शासन को कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं हैं। यह भी कह दिया कि जब देश स्वतन्त्र हो जायेगा, तो हमारी अपनी स्वदेशी हुकूमत सामाजिक सुधारों को स्वतः ही लागू करेगी आदि। परन्तु दयानन्द इस नीति के समर्थक नहीं थे। उनका तो यह दृढ़ विश्वास था कि जब तक व्यापक हिन्दू समाज के सामाजिक, पारिवारिक और नैतिक जीवन में यथेच्छ सुधार नहीं होगा, जब तक वे अपनी रूढ़ियों, हानिकारक प्रथाओं तथा जीर्णशीर्ण रीति रिवाजों से छुटकारा नहीं पा लेंगे, तब तक भारत की स्वाधीनता भी आकाश कुसुम के तुल्य ही रहेगी।

महर्षि दयानन्द का अपना राजनीतिक दर्शन भी था। हमारे शासन के सूत्रधार कैसे हों, कि आदर्शों से प्रेरित होकर वे प्रजारंजन के कार्य में लगें, इन सब बातों की ओर उनका ध्यान गया था। दयानन्द के राजनैतिक विचार मुख्यतः वेदों तथा उन्हीं के आधार पर लिखे गये मन्वादि स्मृतिग्रन्थों, शुक्र, विदुर जैसे नीतिकारों द्वारा निर्मित ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों को आधार बना कर लिखे गये हैं। किन्तु दयानन्द इस बात के लिये भी सहमत हैं कि आर्यों की राजनीति विद्या में विवेचित तथा निर्धारित प्रशासन के इन सिद्धान्तों को देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है।[1]

एक और आश्चय्र की बात है। हमारे इतिहासकारों ने यह धारणा प्रचलित कर रखी है कि भारत में राष्ट्रवाद की भावना, लोकसत्ता तथा प्रजातन्त्र की धारणा उसी समय से फैलने लगी, जबकि देशवासी यूरोपीय राजनैतिक चिन्तन के सम्पर्क में आये। प्रकारान्तर से यह कहा जाता रहा कि रूसो और वाल्तेयर, बेन्थम और मिल से अनुप्राणित होकर ही देश में राजनैतिक चेतना का स्फुरण हुआ। परन्तु ऐसा कहने वाले इस तथ्य को भूल जाते हैं

---

1. सम्पादक डॉ0 भवानीलाल भारतीय,
स्वामी दयानन्द सरस्वती : व्यक्तित्व विचार और मूल्यांकन, पृ. 132.

कि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में राष्ट्रवाद, लोकसत्ता तथा प्रजातन्त्र पर आधारित राज्यशासन के जैसी परिकल्पना की है, उसे किसी पाश्चात्य चिन्तन अथवा दार्शनिक से कोई प्रेरणा नहीं मिली थी। इण्डियन नेशनल क्रांग्रेस के 1912 के अधिवेशन का सभापतित्व करने वाले पं0 बिशननारायण दर ने ठीक ही कहा था कि महर्षि दयानन्द अपने युग के सर्वाधिक मौलिक हिन्दू हैं। वे ही प्रथम भारतीय सुधारक हैं जो पश्चिमी संस्कृति से कुछ भी ग्रहण नहीं करते और यही बात दयानन्द के अंग्रेजी जीवनी लेखक शिवनन्दनप्रसाद कुल्यार ने लिखी है।

मेरी मान्यता है कि महर्षि दयानन्द ने भारतवर्ष को संसार का सबसे प्राचीन सबसे अधिक सुसंस्कृत, सभ्य और सब प्रकार से सुसम्पन्न देश मानकर इसके उत्थान का स्वप्न देखा था।[1] उन्नीसवीं शताब्दी का भारत उनकी दृष्टि में पराधीन, स्वसंस्कृति विहीन, विवश और विकृत भारत था,उसे पुनः अपने अतीत गौरव में ले जाना और सभ्य–सुसंस्कृत बनाना उनका लक्ष्य था। अतः हम कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस सांस्कृतिक चिन्तन को अपने सामाजिक सुधार कार्यों के साथ गहरे स्तर पर जोड़ा और भारतीय राष्ट्रवाद का पुनरुत्थान किया।

3.4. वर्णाश्रम–व्यवस्था :–

महर्षि दयानन्द ने वर्णाश्रम–व्यवस्था को सुधरे रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वर्ण–व्यवस्था जन्मजात नहीं है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द का मन्तव्य 'जन्मना जाति' का पोषक नहीं अपितु कर्मणा जाति का समर्थक रहा है। मनु को उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है– जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य के समान गुण, कर्म, स्वभाव वाला हो तो शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए, वैसे ही

---

1. सम्पादक, डॉ0 योगेश्वर देव दीपचन्द निर्मोही,
धर्म और संस्कृति, पृ. 366.

जो ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुआ हो और उसके गुणकर्म स्वभाव शूद्र के सदृश हो तो वह शूद्र हो जाए, वैसे क्षत्रिय (व) वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है। अर्थात् चारों वर्णों में जिस जिस वर्ण के सदृग जो जो पुरुष या स्त्री हो वह उसी वर्ण में गिनी जावें।[1]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने वर्ण–व्यवस्था को गुण कर्मानुसार निश्चित किये जाने का सिद्धान्त समाज के समक्ष रखा। धर्माचरण से निम्नस्थ वर्ण का उच्च वर्ण में आ जाना तथा निकृष्टाचरण से उत्तमस्थ वर्ण का निम्न वर्ण में गिना जाना निस्सन्देह सदाचार के महत्त्व को रेखांकित करता है। साथ ही गुण कर्म के अनुसार वर्णपरिवर्तन होना वर्ण–व्यवस्था को लचीलापन प्रदान करता है। इससे नीच वर्णो के उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ता है और उत्तम वर्णस्थ अपने वर्ण में बने रहने के लिए प्रयास करता है। इस विषय में महर्षि दयानन्द का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है– इस प्रकार वर्ण–व्यवस्था होने से पक्षपात न होकर सब वर्ण उत्तम बनने में प्रयत्न करते, और उत्तम बने रहते, और उत्तम वर्ण भय से कि मैं नीच न हो जाऊं इसलिए बुरे कर्म छोड़कर उत्तम कर्मों को ही किया करते हैं इससे संसार की बड़ी उन्नति है।[2]

विभिन्न वर्णों के गुण कर्म :–

महर्षि दयानन्द ने वर्ण–व्यवस्था के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मन्तव्य समाज को दिया तथा सम्पूर्ण आर्यावर्त को इसे अपनाने के लिए प्रेरित किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य

---

1. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 82.
   शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
   क्षत्रियाज्जातमैवन्तु विद्याद्वैश्यातथैव च।।
   मनुस्मृति 10.65.
2. संस्कारविधि, दयानन्द सरस्वती, विवाह प्रकरणम्, पृ. 134.

एवं शूद्र जन्म से नहीं बल्कि अपने गुण–कर्म–स्वभावादि से बनते हैं। यह विचार अपने आप में ही मनुष्यमात्र के हित में महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कैसा आचरण करें तथा उनके क्या–क्या कर्त्तव्य हों, इस पर महर्षि ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

ब्राह्मण :–

ब्राह्मण हमारे समाज में श्रेष्ठ वर्ण कहलाता है। वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत पदे-पदे ब्राह्मणों का कर्म निर्धारित हैं। उनके कर्त्तव्यों एवं आचरण के सम्बन्ध में मनुस्मृति में कहा गया है कि ब्राह्मणों का कार्य अध्ययन–अध्यापन, यजन–याजन तथा दान और प्रतिग्रह है।[1] वे अपने व्यवहार से समाज को दिशा देते हुए अपने गुणकर्मानुसार श्रेष्ठत्व स्थापित करें। इन्हीं विशेषताओं को ग्रहण करते हुए महर्षि दयानन्द ने अपने संस्कारविधि तथा सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थों में ब्राह्मणों के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। इसके साथ उन्होंने शम, दम, तप, शौच आदि भी द्विजों के नौ और कर्मों का विधान किया है जो गीता के अठारवें अध्याय के बयालीसवें श्लोक में वर्णित है।[2] ब्राह्मण अपने संस्कारों, विद्या, आचरण आदि श्रेष्ठ गुणों के कारण गुरु, आचार्य आदि पदवियों से विभूषित होते रहे हैं।

क्षत्रिय :–

समाज में ब्राह्मणों के अनन्तर क्षत्रियों का प्रभुत्व है। न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़कर श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना सब प्रकार से

---

1. अध्यायनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
   दानंप्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।।
   मनुस्मृति– 1.88.

1. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिर्आजव मेव च।
   ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्।।
   भगवत् गीता 18.42.

सब का पालन करना (दान) विद्या धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना (इज्या) अग्नि होत्रादि यज्ञ करना व कराना (अध्ययन) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना तथा पढ़वाना और (विषयेषु) विषयों में न फस कर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना।[1] (शौर्य) सैंकड़ों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना (तेजः) सदा तेजस्वी (धृति) धैर्यवान् होना (दक्ष्य) राज और प्रजा सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में चतुर होना (युद्धे) युद्ध में दृढ़ रहना (दान) दानशीलता रखना (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सब के साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचार देके (प्रतिज्ञा) पूरी करना उसको कभी भङ्ग होने न देना।[2] महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में क्षत्रिय के लिए भी ब्रह्मचर्य का पालन, अग्निहोत्रादि यज्ञों के आयोजन को भी इनके करणीय कार्यों में सम्मिलित किया है।

वैश्य :–

वर्णव्यवस्था में वैश्य हमारे समाज का एक तृतीय स्कन्ध है। महर्षि मनु ने वैश्यों के लिए वेदादिशास्त्रों का अध्ययन अग्निहोत्रादि यज्ञ, दान तथा पशु धन का संवर्धन करते हुए वणिक्पथ का पालन अनिवार्य कार्यों में गिना है। वैश्य के लिए धन का हिसाब–किताब आवश्यक कार्य है जिस पर समाज का व्यापार निर्भर करता है।[3] वैश्यों के

---

1. सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थसमुल्लास, पृ. 84.
   प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
   विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।
   मनुस्मृति 1.89.
2. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास, पृ. 84.
   शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
   दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। भगवत गीता 18.43.
3. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
   वणिक्यपथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। मनुस्मृति 1,90.

प्रसंग में महर्षि दयानन्द का भी ऐसा ही कथन है जो उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

शूद्र :–

शूद्र को समाज का चतुर्थ स्कन्ध कहा गया है। समाज के वे कार्य जिन्हें उल्लिखित तीन वर्ण करने में अक्षम है, वे इस वर्ग के लिए निर्धारित है। इस वर्ग के लिए भले ही आपाततः देखने में छोटे कार्य सौंपे गए हैं किन्तु महत्त्व की दृष्टि से वे बड़े काम के हैं। शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़ के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन करना यही एक शूद्र का कर्म गुण है।[1] महर्षि दयानन्द ने इस वर्ग के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं हां इन्हें कहीं–कहीं अत्यन्त निम्नावस्था अथवा दुरवस्था के ऊपर उठाने के लिए महर्षि दयानन्द ने सहानुभूति दर्शाते हुए समाज को जागरूक किया और इन्हें भी उपर्युक्त तीनों वर्णों की समकक्षता में वेदाध्ययन आदि का अधिकार देने की वकालत की है।

महर्षि दयानन्द जहाँ सुदृढ़ समाज व्यवस्था के लिए विद्या और धर्म प्रचार का कार्य ब्राह्मण को, राज्य–रक्षा सम्बन्धी अधिकार क्षत्रिय को, व्यापारादि का अधिकार वैश्य को तथा सेवा का अधिकार शूद्र को दिए जाने पर बल देते हैं वहीं यह भी निर्धारित करते हैं कि ब्राह्मण–क्षत्रिय वैश्य यदि अपनी सन्तानों को अपने ही वर्ण में देखना चाहते हैं तो उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी वैसे ही ढालें अन्यथा पात्रता की दृष्टि से उनकी संतानें अपने से निम्नस्थ वर्णों में रखी जाएंगी।[2] इन्होंने अपने–अपने कुल के

---

1. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास, पृ. 85.
   एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशात्।
   एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।।
   मनुस्मृति 1.91.
2. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास, पृ. 89.

गुण, कर्म को कायम रखना अत्युत्तम माना तथा चाहा कि सभी वर्णस्थ व्यक्ति ऊर्ध्वोन्मुखी हों, अपने से ऊँचे वर्ण को प्राप्त करने का प्रयास तो करते रहें पर निचले वर्ण में न जाएं। यही महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वर्ण–व्यवस्था की विशेषता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि महर्षि दयानन्द ने वर्ण–व्यवस्था को गुणकर्माश्रित मानकर उसे अधिक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया तथा चाहा कि इसे अनिवार्य रूप से व्यवहार में उतारा जाए चूंकि इससे सारे सामाजिक उन्नतिशील होंगे। वर्णानुसार कार्य–विभाजन से राष्ट्र में धर्म, ज्ञान व विज्ञानादि की विशेष समृद्धि है। आज महर्षि दयानन्द के ये विचार व्यवहार में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध कर रहें हैं।

आश्रम व्यवस्था :–

समाज के संगठन और सुव्यवस्था हेतु तथा समाज को नियमित एवं संतुलित जीवन प्रणाली देने के लिए व्यक्ति के समयाश्रित काल को चार आश्रमों में विभाजित किया गया है जिनके नाम हैं, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।

महर्षि दयानन्द आश्रम–व्यवस्था का विधान करते हुए कहते है कि– मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है।[1] महर्षि दयानन्द के आश्रमों सम्बन्धी विचार इस प्रकार हैं–

ब्रह्मचर्याश्रम :–

महर्षि दयानन्द के अनुसार पाँच व आठ वर्ष की उमर से पच्चीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम का समय है और यह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिए होता है। महर्षि ने ब्रह्मचर्याश्रम के विषय में विस्तारपूर्वक विचार किया है। वे

---

1. सत्यार्थप्रकाश– पंचम समुल्लास, पृ. 115.

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कहते हैं – "ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते"[1] अर्थात् ब्रह्मचर्य के अनुष्ठानपूर्वक ही गृहाश्रम आदि तीनों आश्रम सुख से उन्नति को प्राप्त होते हैं। वे शिक्षा–व्यवस्था को राज्य का कार्य मानते हैं– "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को..... ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना।" वे अनिवार्य–शिक्षा के समर्थक हैं– "राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य कुल में रहें।"[2] इसे सब आश्रमों के सुख का मूल मानकर इसी महत्ता को स्पष्ट करते हुए महर्षि का कथन है। ब्रह्मचर्य, जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक–ठीक सुधारने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं।

उपनयन संस्कार के पश्चात् व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करता है। यह आश्रम ज्ञानोपार्जन, व्यक्तित्व के निर्माण तथा व्यवहार कुशल होने का काल है। ब्रह्मचर्य पालन से व्यक्ति में अनेकविध संस्कारों का आधान/विकास होता है और भविष्य के लिए एक आदर्श व्यक्ति के रूप में समाज का अनुकरणीय व्यक्तित्व बनता है।

गृहस्थाश्रम :–

गृहस्थाश्रम मनुष्य जीवन का द्वितीय आश्रम है। पच्चीस से पचास वर्ष की समयावधि में इस आश्रम की स्थिति है। जैसे प्रथम आश्रम में विद्याध्ययन को अनिवार्य माना गया है, वैसे ही द्वितीय आश्रम में धनोपार्जन को मुख्य कर्त्तव्य कहा गया। इस आश्रम में व्यक्ति अपने परिवार की रक्षा संवर्धन एवं पालन करता हुआ सांसारिक सुख भोग का लाभ प्राप्त करता है।

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वर्णाश्रम, पृ. 557.
2. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ. 71.

महर्षि दयानन्द ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने हेतु कई व्यवस्थाएं दी हैं जिनमें समान गुण शीलता, स्त्री–पुरुष की परस्पर आकांक्षा, आयु की परिपक्वता तथा जितेन्द्रियत्व एवं संस्कारशीलता उल्लेख हैं। दम्पती के लिए परस्पर अनुकूलता एवं प्रियाचरण को उन्होंने सफल गृहस्थ का मूल–मंत्र स्वीकार किया है।[1] परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भी द्वेष–भाव का त्याग कर प्रेमपूर्वक आचरण करना उन्होंने अनिवार्य माना है।

महर्षि दयानन्द ने दम्पत्ति के लिए पंचयज्ञ करने का निर्देश दिया है ताकि एक सद्गृहस्थ ईश्वर के समर्पण में अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करता हुआ परिवार और समाज के लिए आदर्श बने।

गृहस्थाश्रम हमारे समाज का सबसे काम्य एवं प्रतिष्ठित आश्रम है जो हमारे, परिवार, समाज, राष्ट्र का गौरव होता हुआ इसके अस्तित्व को सुनिश्चित करता है। इस आश्रम पर ही अन्य आश्रमों की सत्ता निर्भर करती है। इस लिए यह आश्रम सब आश्रमों से श्रेष्ठ बताया गया है। गृहस्थाश्रम सम्बन्धी महर्षि के विचारों का उन्हीं की पंक्तियों में समाहार किया जा सकता है– जितना कुछ व्यवहार संसार में है उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता तो सन्तानोत्पति के ना होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से होते जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है। परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों।[2]

---

1. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 105.
2. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 114.

वानप्रस्थाश्रम :–

सांसारिकता से मोह एवं बंधनों की निवृत्ति हेतु आचार्यों ने जीवन में अनेक प्रकार के उपायों की परिकल्पना की है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम जहाँ विद्या एवं अन्य ऐश्वर्यों को पाने के काल हैं, वहीं वानप्रस्थाश्रम है जिसमें एकान्त–सेवन, ईश्वर की उपासना एवं विविध विद्याओं का मनन किया जाता है। तदनन्तर परब्रह्म की प्राप्ति तथा संसार के उपकार के लिये संन्यास धारण किया जाता है।[1]

महर्षि दयानन्द ने मनु को उद्धृत करते हुए वानप्रस्थी के लिए स्वाध्यायी होना, पंचमहायज्ञ करना, जितेन्द्रिय होकर सबका मित्र होना, विद्यादि का दान करना सब पर दयालु रहना तथा किसी से कुछ भी पदार्थ न लेना आदि गुण गिनाए हैं।[2]

संसार बड़ा आकर्षणपूर्ण तथा माया का जंजाल है, जो व्यक्ति को पग–पग पर बांधता है। गृहाश्रम के पश्चात् हमारे ऋषियों ने चाहा कि व्यक्ति को अपने परिवार बन्धु–बांधवों तथा ऐश्वर्यादि भोगों से विरत होकर वानप्रस्थी के रूप में मुक्ति हेतु आधार भूमि तैयार करनी चाहिए अतः उन्होंने वन में रहकर, गृहस्थ की सारी चिन्ताओं से मुक्त होकर व्यक्ति को मनसा वाचा कर्माणा भगवत् चिन्तन की सलाह दी है।

अतः कहा जा सकता है कि इस आश्रम में व्यक्ति का स्वभाव सभी प्राणियों के प्रति द्वेष रहित निर्वैर तथा उदार हो जाता है जो उसे सृष्टि के समस्त प्राणियों की हितचिन्ता से जोड़ता है। पति–पत्नी के बीच शारीरिक सम्बन्ध से ऊपर–उठकर एक दूसरे के प्रति सहयोग भावना का विस्तार होता है तथा अखण्ड मैत्री का भाव पनपता है।

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वर्णाश्रम, पृ. 553–555.
2. सत्यार्थप्रकाश, पंचमसमुल्लास, 115–116.

संन्यासाश्रम :–

यह व्यक्ति की आयु के अन्तिम चरण का आश्रम हैं। पचहत्तर वर्ष से आयु पर्यन्त इस आश्रम की कालावधि है। इस आश्रम में पहुँचे व्यक्ति के लिए निर्देश है कि वह अपने तमाम संगी–साथियों को छोड़ कर परिव्राजक हो जाए। संन्यास के इच्छुक व्यक्ति के हृदय में वैराग्य का भाव अधिक गहरा होता है। वह सब ओर से किनारा करके जीवन की अन्तिम प्राप्ति अर्थात् मोक्ष के साधनारत होता है। महर्षि के विचार में पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने वाला,[1] पुत्रैषणा, वितैषणा और लोकैषणा से ऊपर उठा हुआ,[2] पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकार–प्रिय मनुष्य की संन्यास ग्रहण का अधिकारी है।[3] स्त्री, पुरुष दोनों को ही संनयास का अधिकार है।[4] इस आश्रम में जीवन को साधने के अनेक विधान हैं जो मनु प्रतिपादित संन्यासी के कर्त्तव्यों में परिगणित हैं। महर्षि दयानन्द ने भी इसी आधार पर संन्यासियों के कर्त्तव्यों का निर्धारण किया है।

महर्षि दयानन्द संन्यास आश्रम के मूल प्रयोजन तथा संन्यासियों के कर्त्तव्यों का मुख्यतः प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं– वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश और सबको निःसंदेह करने आदि के लिए संन्यासाश्रम है। परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते वे पतित और नरकगामी हैं। इससे संन्यासियों को उचित है कि सदा सत्योपदेश, शंकासमाधान, वेदादि सत्यशास्त्रों का अध्यापन और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके सब संसार की उन्नति किया करें।[5]

---

1. सत्यार्थप्रकाश, पंचम समुल्लास, पृ. 160.
2. वही, पृ. 163.
3. वही, पृ. 168.
4. वही, पृ. 174.
5. वही, पृ. 127.

अतः कहा जा सकता है कि आश्रम व्यवस्था एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसे आधार बना कर कोई भी देश, समाज, राष्ट्र विकास तथा प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। आश्रम प्रणाली व्यक्ति तथा समाज दोनों की उन्नति में सहायक रही है। यह व्यवस्था आत्मिक उन्नति और सामाजिक अभ्युदय दोनों का मार्ग प्रशस्त करती है।

चतुर्थ अध्याय

राष्ट्रवादी दयानन्द की राजनीतिक अवधारणा

4.1. राज्य की उत्पत्ति एवं राजधर्म।

4.2. राजा और प्रजा का सम्बन्ध।

4.3. राजा की राष्ट्रीयता एवं उसके कर्त्तव्य।

4.4. राज्य सभाएं और उनके सभासद्।

4.5. दण्डनीति, युद्धनीति, अर्थनीति और सैन्य नीति।

4.1. राज्य की उत्पत्ति एवं राजधर्म :–

राज्य की उत्पत्ति :–

महर्षि दयानन्द के अनुसार प्रत्येक राज्य तब ही राज्य कहलाने के योग्य होता है जब वह व्यवस्थित हो। अत्यवस्थित स्थिति को राज्य नहीं कहा जा सकता। वेद में राज्य पुरुष की कल्पना करके एक व्यवस्थित समाज का सूत्रपात किया गया है :–

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्य कृतः।
अरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।[1]

इस मन्त्र में कहा गया है कि– "ब्राह्मण का स्थान मुख के सदृश है, क्षत्रिय को गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार बाहू बनाया गया है। वैश्य ऊरु के समान है और पद अर्थात् सेवा और निरभिमानत्व के समान शूद्र है। यहाँ पर शूद्र पद का प्रयोग यह सूचना दे रहा है कि समाज में सभी शूद्रवत् हैं। गुण, कर्म तथा स्वभाव से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि होते हैं।[2] अर्थात् सम्पूर्ण राज्य एक पुरुष माना जाए, तो ब्राह्मण वर्ग उस पुरुष का मुख है, क्षत्रिय समूह उस राज्य पुरुष के हाथ हैं, उद्योग करने वाले व्यापारी, कृषक आदि वैश्य समुदाय उसका उदर है ओर शेष समुदाय जो किसी भी प्रकार के सेवा धर्म से जुड़ा है, वह उसका पैर है। इस प्रकार किसी भी अङ्ग के हीन होने पर वह पुरुष विकलाङ्ग हो जाएगा। इसलिए प्रत्येक अंग का समान महत्त्व है। वेद में इस राज्य के व्यवस्थित उपायों को इंगित करते हुए कहा है–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः, शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री, धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू, रथेष्ठाः सभेयो

---

1. ऋग्वेद 10.90.12.
2. स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक, द्र ऋग्वेदभाषाभाष्य, पृ. 10.90.12.

युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां, निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।[1]

राज्य निर्माण करते हुए ऐसे राज्य का होना अनिवार्य है जिसमें "वेद–विद्या से प्रकाशमान, वेद और ईश्वर के ज्ञाता ब्राह्मण उत्पन्न हों, शास्त्रास्त्र के संचालन में निपुण, शत्रुओं को जीतने वाले, महारथी, महावीर, निर्भय क्षत्रिय उत्पन्न हों। दुधारू गो, भारवाहक बैल, शीघ्रगामी घोड़े, धारण–पोषण करने वाली स्त्री, रथ में बैठने वाले विजेता, सभ्य युवक उत्पन्न हों। विद्वानों का सत्कार, संगति और सुख प्रदान करने वाले यजमान राजा के राज्य में विज्ञानवान्, शत्रुओं को दूर भगाने वाले वीर उत्पन्न हों। जब–जब कामना करें तब–तब निश्चित रूप से वर्षा हो, हमारी कृषि तथा अन्य वनस्पति यथासमय फलपुष्प वाली हो, अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा सिद्ध हो।"[2]

महर्षि दयानन्द ने जिन्हें राज्य के लिए आवश्यक तत्त्व माना है, वे इस प्रकार वर्णित हैं– "ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद विद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, वही राज्य के प्रबन्धों में सुख प्राप्ति का हेतु होता है। इसलिए अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है। उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है। जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन व अन्यथा कोई नहीं कर सकता। क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है। ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तब ही संसार की उन्नति होती है।"[3]

महर्षि दयानन्द लिखते हैं– "जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें, जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत होकर प्रजा का नाशक होता है अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है इसलिए

---

1. यजुर्वेद 22.22.
2. द्र. दयानन्दभाष्य , यजुर्वेद 22.22.
3. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (राजप्रजाधर्मविषय)

किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए।" जैसे सिंह वा माँसाहारी हृदयपुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक नहीं होने देता, श्रीमान् को लूटकर अन्याय से दण्ड देकर अपना प्रयोजन पूर्ण करेगा।"[1] अन्यत्र भी संकेत मिलता है– "राज का कार्य एक पर निर्भर न रखें। किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।"[2]

राज्यव्यवस्था के संचालन के लिए तीन सभाओं का निर्माण हो। महर्षि लिखते हैं कि– "तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीन ये हैं– प्रथम राज्य प्रबन्ध के लिए 'आर्यराजसभा', कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किये जायें, दूसरी 'आर्यविद्यासभा', कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए, तीसरी 'आर्यधर्मसभा' कि– जिससे धर्म प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे।"[3] दयानन्द लिखते हैं– "उन सभासदों में से एक राजा होता है, जो अपनी योग्यता के आधार पर सभापति बना दिया जाता है, एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे।"[4] राज्य व्यवस्था को सामर्थ्य देते हुए राज्य में निर्धारित नियमों का उल्लंघन कोई भी व्यक्ति न करे, यदि कोई करे तो वह दण्डनीय हो। तीन सभायें और उनका एक सभापति निर्वाचित करने के बाद उन सभाओं के अन्तर्गत कुछ समितियाँ और सेना आदि को बनाना उचित है।[5]

राजा मन्त्रिमण्डल की स्थापना के लिए सचिव अर्थात् मन्त्री रख सकता है। स्मृति में वर्णित है–

---

1. सत्यार्थप्रकाश षष्ठसमुल्लास, पृ. 129.
2. पं. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ.632.
3. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (राजप्रजाधर्मविषय)
4. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास। पृ. 129.
5. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास। पृ. 128–129.

अन्यनपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसभाहर्तृनमात्यान्सुपरिक्षितान्।।[1]

राज्य के अधिकारी जितेन्द्रिय, गुणयुक्त और विद्वान् पुरुष ही होते हैं, जो प्रजा को उन्नत बनाते हैं।[2] राज्य के अधिकारी पुरुषों और उनकी स्त्रियों को स्वयं उन्नत बनकर तथा अन्यों को भी समुन्नत बनाकर चक्रवर्ती राज्य का भोग करना चाहिए। ईर्ष्या द्वेष एवं दुर्भावनाओं से राज्य भंग हो जाता है।[3]

राज्यव्यवस्था में दूत का होना उचित है। सन्देश वहन करने और उसको प्रस्तुत करने में देरी न करना दूत का विशेष गुण है।[4] महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को तोड़–फोड़ दे, दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओं में फूट पड़े। वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानकर वैसा प्रयत्न करे कि जिससे अपने को पीडा न हो। अमात्य को दण्डाधिकारी, दण्ड में विनय क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न हो, राजा के अधीन कोष और राज्यकार्य तथा सभा के अधीन सब कार्य और दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करना अधिकार दें।"[5]

राज्य की उन्नति, ज्ञान की वृद्धि, क्षात्र–धर्म को विकास धनधान्य की वृद्धि और सुदृढ़ न्याय–व्यवस्था पर आधारित होती है।[6] महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि– "जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाएँ होती हैं, वही देश सब

---

1. मनुस्मृति 7.60.
2. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ यजुर्वेद, 10.17
3. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 10.3.
4. दिलीप वेदालंकार, वेदों में मानववाद, पृ. 229.
5. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठ समुल्लास) पृ. 138.
6. डॉ0 प्रशान्तकुमार वेदालंकार, पृ. 24, दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्यव्यवस्था।

उपद्रवों से रहित होकर अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है।"[1]

महर्षि दयानन्द के मतानुसार राष्ट्र के लिए लक्ष्मी (धनधान्य) भी आवश्यक होती है– "श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहलाता है। उसी प्रकार सुदृढ़ न्याय व्यवस्था भी राष्ट्र में होनी चाहिए, जो न्याय से राज्य का पालन करता है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहलाता है।"[2]

राजधर्म :–

राष्ट्र में रहकर राजधर्म का पालन करना ही राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। राष्ट्र–पालन की उत्तम व्यवस्था के लिए राजा को दृढ़ाङ्ग और बलयुक्त होना चाहिए, क्योंकि यदि वह ही विषयासक्त होगा तो राजधर्म ही नष्ट हो जाएगा। राष्ट्र विकास एवं उन्नति राजधर्म पर ही निर्भर करती है। राजा अपने धर्म का सदा ही पालन करे, अतः स्मृति में वर्णित है–

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनं।[3]

प्रजापालन करना ही राजाओं का परम धर्म है। अतः सब राज्यों का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमादरहित होकर राजा अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे।[4] "राजा प्रजाजनों और सैनिकों के प्रति सदा सत्य और प्रिय भाषण करे, उन्हें धन दे और उनसे ग्रहण भी करे। अपने शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाकर, नित्य शत्रुओं

---

1. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद– 20.25.
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्मविषय।
3. मनुस्मृति 7.144.
4. सत्यार्थप्रकाश षष्ठसमुल्लास पृ. 145.

को जीतकर धर्म से प्रजा का पालन करे।"[1]

राजधर्म की उन्नति के लिए कैसे व्यक्ति को राजा बनाएं इसका वर्णन वेद में है कि "मनुष्य–ईश्वर प्रेमी, बल, वीर्य और पुष्टि से युक्त, चतुर, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, प्रजापालन में समर्थ विद्वान् को परीक्षापूर्वक सभा का अधिष्ठाता अर्थात् सभापति (राजा) अभिषिक्त करके राजधर्म की उन्नति करें।"[2]

राजा राजधर्म का पालन करके ही चक्रवर्ती राज्य का सेवन करने के योग्य होता है, अतः वेद में कहा है–

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुर सद्भयः स्वाहा–
यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भयः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः।
पश्चात्सद्भयः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो देवेभ्यऽ
उत्तरासद्भयः स्वाहा सोम नेत्रेभ्यो देवेभ्यऽ उपरिसद्भयोः दुवस्वद्भयः स्वाहा।।[3]

इस मन्त्र में कहा गया है कि– "जब आप (राजा) सब ओर से श्रेष्ठ विद्वानों से घिरे हुए सुशिक्षित, सभा करने वाले, सेना के रक्षक, उत्तम सहायक होकर सनातनी वेदोक्त राजधर्म की नीति से प्रजा का पालन करें, तब ही इस लोक और परलोक में सुख को प्राप्त करें। यदि इसके विरूद्ध आचरण करेंगे तो सुख कहाँ? क्योंकि मूर्ख जिसके सहायक हैं वह सुख से नहीं बढ़ता और विद्वानों के उपदेश का अनुगामी कभी सुख को नहीं छोड़ता, अतः राजा सदा विद्या, धर्म और आप्त जनों के सहाय से राज्य की रक्षा करे। जिसकी सभा वा राज्य में पूर्ण विद्या वाले धार्मिक विद्वान् होते हैं, मिथ्यावादी व्यभिचारी, अजितेन्द्रिय, कठोर वचन बोलने वाले, अन्यायकारी, चोर और डाकू आदि नहीं होते और जो स्वयं भी ऐसा हैं वह पुरुष चक्रवर्ती राज्य कर सकता है,

---

1. द्र दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद, 9.28.
2. वही, 9.30.
3. यजुर्वेद, 9.35.

इससे विरूद्ध व्यक्ति राज्य नहीं कर सकता, ऐसा समझें।"[1] "जो राजा विद्या और विनय से न्यायपूर्वक प्रजाओं का निरन्तर पालन करे तो यश, धन, राज्य की उन्नति और उत्तम पुरुष प्राप्त हों।"[2]

राजा के सत्याचार के अनुसार प्रजा तथा प्रजा के अनुसार राजा चले, तब शान्ति और मंगल का साम्राज्य होता है एवं सभी का कल्याण होता है।

राजा राज्य को बढ़ाने वाले मन्त्रियों का सत्कार करे, तद्यथा– "हे राजन्! जो आपके मन्त्री लोग सेना, विजय, धन, राज्य, उत्तम शिक्षा और धर्म को बढायें उनका आप निरन्तर सत्कार कर उनके साथ राज्य के सुख का सदा भोग करे।"[3]

राजा के साथ–साथ राजपुरुष और प्रजाजन भी अपने–अपने धर्म का पालन करें, तद्यथा– "जो राजपुरुष और प्रजाजन गृहस्थ हैं, ये मेधावी सन्तान वा विद्यार्थी में विद्याबुद्धि उत्पन्न करते हैं, उसे दुष्ट–आचरण से अलग रखते हैं, कल्याणकारक कर्म कराते हैं, कुसङ्ग से पृथक् करके सत्संग का सेवन कराते हैं, वे ही अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करते हैं, उससे विपरीत आचरण करने वाले नहीं।"[4]

यदि राजा नियमों का उल्लंघन करके अपने कर्त्तव्यों के प्रतिकूल चलता है तब वह राजधर्म को नष्ट–भ्रष्ट कर देगा, जिससे राज्य का स्वरूप भी समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि यदि राजा अपने कर्त्तव्य कर्मों को राज्य के नियमों के अनकूल करता है तब ही वह राजधर्म का उचित रूप से पालन कर सकता है।

अन्ततः यह कहना उचित है कि राजा अपनी प्रजा को संवर्धित करे। राजा को अपनी प्रजा की सुरक्षा–व्यवस्था करनी चाहिए, राज्य–सेना और कोष आदि की वृद्धि करके सुदृढ़ राज्यव्यवस्था बनानी चाहिए। राजा के अन्य कर्त्तव्य–कर्मों के अन्तर्गत शिक्षाव्यवस्था की अनिवार्यता, कर–प्रबन्ध की स्थापना आदि राजकार्य सम्मिलित हैं।

---

1. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद, 9.35.
2. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद, 5.3.8.
3. द्र. वही, 3.32.3. भावार्थ।
4. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 9.4.

राजा को राज्यों की निरन्तर वृद्धि करनी चाहिए। राष्ट्र के अनुशासन के लिए राजधर्म का अच्छे प्रकार से पालन करना शासक के हाथ में हैं। राजधर्म में प्रवृत्त होकर प्रजा को पुत्रवत् न्याय से पालन करना ही राजा का मुख्य कर्त्तव्य है। राष्ट्रहित के लिए उचित व्यक्ति को राजपद सौंपना चाहिए, जिसमें अच्छे गुणों का समावेश हो और जो राजधर्म की उन्नति कर सके। यदि राजा राजधर्म का कुशल नीति से पालन करता है तब उसे चक्रवर्ती राज्य की प्राप्ति होती है। राजा को उत्तम पुरुषों, विद्या का प्रचार करने वाले, धन और राज्य आदि की वृद्धि करने वाले मन्त्रियों का सम्मान करना चाहिए। राजधर्म का पालन करके ही राजा राज्य–सुख प्राप्त कर सकता है, जिससे प्रजा भी सन्तुष्ट होगी।

4.2. राजा और प्रजा का सम्बन्ध :–

प्रजा को नियन्त्रण में रखने के लिए राजा का होना परम आवश्यक है। यदि प्रजा न हो तो राजा किसका? और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहलाये? अतः राजा प्रजा का रक्षक होता है। राजा प्रजा के साथ और प्रजा राजा के साथ परस्पर सहायकारी होकर सदा अपना वर्ताव रखें, क्योंकि जैसा अच्छा या बुरा आचरण श्रेष्ठ पुरुष करते हैं वैसा ही इतर जन करने लगते हैं। तद्यथा– 'यथा राजा तथा प्रजा'[1] अर्थात् जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है।

राजा और प्रजा के सम्बन्ध में उचित है कि– "राजा प्रजा को पुत्रवत् समझे और प्रजा राजा को पितृवत् वर्ते।"[2] राजा और प्रजाजन दोनों अच्छे कर्म करें और दुष्ट कर्मों से दूर रहे–

माहिर्भूर्म्मा पृदाकुः। उरुहि राजा वरुणश्चकार सूय्यर्याय, पन्थामन्वेतवा ऽउ अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरस्तापक्कता, छदयाविधश्चित् नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः।।[3]

---

1. सत्यार्थप्रकाश, (षष्ठसमुल्लास) पृ. 163.
2. वही
3. यजुर्वेद 8.23.

इस मन्त्र में कहा है कि– "प्रजाजनों को योग्य है कि वे विद्वान्, जितेन्द्रिय, धार्मिक जैसे पिता पुत्रों का पालन करता है वैसे प्रजा पालन में तत्पर और सब के लिए सुखकारी हो उसे सभापति बनायें, राजा अथवा प्रजा–जन कभी भी दुष्ट कर्म करने वाले न हों, यदि किसी प्रकार कोई करे तो प्रजा अपराध के अनुसार राजा को दण्ड दे और राजा प्रजा को दण्ड दिया करे, निर्दोष को वृथा पीड़ा कभी न दें और अपराधी को कभी भी दण्ड के बिना न छोडे। इस प्रकार सब न्यायाचरण में तत्पर होकर ऐसा प्रयतन करें कि जिससे अधिक लोग मित्र हों, उदासीन और शत्रु न हों। तत्पश्चात् विद्या और धर्म के मार्गों को साफ करके सब जन परमात्मा की भक्ति में लीन होकर सदा सुखी रहे।"[1]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राजा और प्रजा दोनों को दृढ़ता के साथ अपने–अपने धर्म का पालन करना चाहिए। जिससे अपराधी को दण्ड मिले, न्याय, विद्या और धर्म की उन्नति हो। अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए राजा के मित्र अधिक होने चाहिए और शत्रु कदापि नहीं होने चाहिए। "राजा प्रजाजनों में से आया हुआ उन जैसा ही एक व्यक्ति है। उसे राज्यासन पर बैठकर अधिकार–मद से फूल नहीं जाना चाहिए। उसे सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह स्वयं कोई दैवी व्यक्ति नहीं है प्रत्युत राष्ट्र की प्रजाएं अवश्य दैवी हैं। यदि वह इन दैवी प्रजाओं के पालन और रक्षण में तत्पर होकर राज्यकार्य नहीं करेगा, प्रत्युत अधिकार–मद में भरकर कुपथमासी हो जायेगा, तब उसे स्मरण रहना चाहिए कि वह राज्य से च्युत भी कर दिया जायेगा।"[2] राज्यासन पर बैठते समय ही राजा को उपर्युक्त बातें विदित होनी चाहिए। राजा और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ और स्नेहपूर्ण होना चाहिए कि समय–समय पर प्रजा के सर्वसाधारण मनुष्य राजा को अपने घर में भोजन करने के लिए निमन्त्रण दे सकें

---

1. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेदभाष्य, 8.23.
2. प्रियव्रत वेदवाचस्पति, वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, प्रथम भाग, पृ. 327.

और राजा बिना किसी मान–मर्यादा के भंग होने के भय से किसी भी प्रजाजन के घर भोजन करने के लिए जा सके। उसे किसी भी प्रजाजन का प्रेमपूर्वक दिया हुआ आतिथ्य स्वीकार करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होना चाहिए। प्रजाजनों के द्वारा राजा का भोजन सम्बन्धी आतिथ्य सत्कार करने का विवरण इस प्रकार है–

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्य्यश्वाय धानाः।
अपूपमद्धि स गणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्।।[1]

इस मन्त्र में कहा है कि– "जो विद्या और नम्रता से युक्त (प्रजाजन) हैं वे श्रेष्ठ राजा के लिए उत्तम पदार्थों को देकर उसका निरन्तर सत्कार करें और वे राजा से भी सर्वदा सत्कार के योग्य हैं।"[2] प्रजाओं के घर जाकर भोजन करने का एक प्रयोजन यह है कि वहाँ जाकर राजा प्रजाजनों की आवश्यकताओं और शिकायतों को ध्यान से सुने। राजा उनकी अवस्था को अपनी दृष्टि द्वारा देखे। किसी प्रजाजन का अतिथि बनकर राजा जितनी पूर्णता से उनकी अवस्था को देख और सुन सकता है उतनी पूर्णता से अन्य किसी भी प्रकार से नहीं जान सकता।

जो राजा प्रजा के साथ अच्छी प्रवृत्ति रखेगा वह सदा ही प्रजाओं का बनकर रहेगा, तब वह अपने आपको उनमें से एक समझकर, प्रजाओं में प्रेम और सौहार्द की वृत्ति रखता हुआ उनकी रक्षा और उन्नति चाहेगा। जहाँ कही भी राष्ट्र में किसी भी तरह की आवश्यकता पड़े वहीं पर पहुँचकर राजा को प्रजाजनों का प्रयोजन पूर्ण करना चाहिए। राजा प्रजा का हित चाहे, प्रजा को सुखी रखे और प्रजा के स्वास्थ्य की वृद्धि करे। जब तक राजपुरुष और प्रजापुरुष ज्ञानी, सत्पुरुष और परस्पर मित्र बनकर कार्य करने वाले नहीं होंगे तब तक राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। राजा को राष्ट्र के किसी

---

1. ऋग्वेद– 3.52.7.
2. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 3.52.7.

भी वर्ण–विशेष के साथ पक्षपात नहीं रखना चाहिए। सभी प्रजाजन राजा के लिए एक समान होने चाहिए। राजा का प्रजाओं के साथ मित्र का सम्बन्ध होना चाहिए–

सखीयतामविता बोधि सखा गृणान इन्द्र स्तुवते वयो धाः।
वयं ह्या ते चकृमा सबाध आभिः शमीभिर्महयन्त इन्द्र।।[1]

इस मन्त्र में राजा को निर्देश दिया है कि– "यदि राजा राज्य बढ़ाने की इच्छा करे तब पक्षपात का त्याग करके सबके साथ मित्र के सदृश बर्ताव करे और श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा करके और दुष्ट पुरुषों को दण्ड देते हुए अपने राज्य की वृद्धि करे।"[2] राजा के साथ–साथ राजपुरुष भी प्रजाओं के साथ मित्रता का भाव बनाए रखें–

शिवाः नः सख्या सन्तु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे।
सा नो नाभिः सदने सस्मिन्नूधन्।।[3]

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि– "जो राजपुरुष परस्पर मित्रता करके प्रजाओं में पिता के सदृश वर्तमान हैं उन लोगों के साथ जो राजनीति का प्रचार करता है, वही सर्वदा राज्य, सुख भोगने के योग्य है।"[4] अपने राष्ट्र की प्रजा के साथ राजा को इस प्रकार का गहरा प्रेम रखना चाहिए, जिस प्रकार माता–पिता का अपनी सन्तानों के प्रति रहता है। उसी प्रकार मित्र को अपने मित्र की उन्नति और उसके कल्याण की चिन्ता रहती है इसी प्रकार राजा भी वर्ते। राजा को प्रजा की उन्नति को अपनी उन्नति और प्रजा के सुख–दुःख को अपना सुख–दुःख समझना चाहिए।

---

1. ऋग्वेद, 4.17.18.
2. द्र. दयानन्द भाष्य, ऋग्वेद 4.17.18. भावार्थ।
3. ऋग्वेद 4.10.8. भावार्थ।
4. द्र. दयानन्दभाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 4.10.8.

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में विशेषतः स्वकीय वेदभाष्य में राजा और प्रजा के और भी सम्बन्ध बताये हैं। वे लिखते हैं कि यदि राजा और प्रजा के सम्बन्ध अच्छे होंगे तब ही राष्ट्र के सब कार्य ठीक प्रकार से सम्पूर्ण होंगे। उसी राजा का राष्ट्र उन्नति करता है जिसका प्रजा के साथ माता–पिता, भाई और बन्धु के सदृश पवित्र सम्बन्ध हो। वेद की सम्मति मे जहाँ राजा, राजकर्मचारियों, प्रजाजनों का प्रेमपूर्वक और घनिष्ठ सम्बन्ध रहे वही आदर्श राष्ट्र कहलाता है।

4.3. राजा की राष्ट्रीयता एवं उसके कर्त्तव्य :–

राजा की राष्ट्रीयता :–

महर्षि दयानन्द के अनुसार सभाध्यक्ष या सभापति ही राजा कहलाता है।[1] वह भी अन्य सभासदों की भांति राजसभा का सदस्य होता है, किन्तु योग्यता के आधार पर सभापति अथवा राजा बना दिया जाता है।[2] राजा राष्ट्र का सर्वोच्च अधिकारी है। राजा अपने राष्ट्र का नागरिक और प्रजा द्वारा चुना हुआ व्यक्ति होना चाहिए। यदि राजा अच्छे गुणों वाला, अपने कर्त्तव्य कर्मों का पालन करने वाला, अपने राष्ट्र में जन्मा और उसकी अपनी ज़मीन होगी, तब ही उसमें राष्ट्रियता होगी। यदि वह राष्ट्र का नागरिक नहीं है तब उसमें राष्ट्रियता समाप्त हो जायेगी। अतः राष्ट्रियता के लिए परम आवश्यक है कि अपने राष्ट्र में चुना हुआ व्यक्ति ही राजा हो। राजा अपने राष्ट्र का नागरिक हो, जिसका विवरण वेद में वर्णित है–

उदेहि वाजिन्यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।[3]

यहाँ स्पष्ट है कि जो तू (राजा) प्रजाओं में रहता है। वेद में और भी कहा गया है–

---

1. द्र. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास, पृ. 202.
2. वही, पृ. 203.
3. अथर्ववेद 13.1.1.

विश आ रोह त्वद्योनयो याः।[1]

यहाँ स्पष्ट है कि जो प्रजायें तेरी (राजा की) जननी हैं अर्थात् जिनमें तू उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों के वर्णन से जहाँ यह भाव निकलता है कि प्रजा राजा को चुनती है, वहाँ इन मन्त्रों से यह भी स्पष्ट है कि राजा अपनी राष्ट्रियता का अर्थात् अपने राष्ट्र में उत्पन्न व्यक्ति होना चाहिए। प्रजाओं द्वारा राजा के चुने जाने का निर्देश वेद में उल्लिखित है–

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।[2]

इस मन्त्र का भाव स्पष्ट है कि प्रजायें अपने में से किसी एक व्यक्ति को राजा चुनती हैं।[3] अर्थात् राजा अपनी राष्ट्रियता का होना चाहिए। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अपने में से ही किसी व्यक्ति को राजा नियुक्त करेगा।

जब अपने राष्ट्र में से कोई ऐसा व्यक्ति मिलना सम्भव न हो सके जिसमें राष्ट्र का गुरुतम भार सम्भालने की सारी क्षमतायें विद्यमान हों, तब ऐसी स्थिति में किसी परराष्ट्र से किसी योग्य व्यक्ति को बुलाकर प्रजा अपना राजा चुन सकती है। दूसरी राष्ट्रियता का व्यक्ति राष्ट्रीय भावनाओं को समझकर बुलाने वाले राष्ट्र को अपनी राजनीतिक प्रतिभा से लाभ ही पहुँचायेगा, इस सन्दर्भ की पुष्टि वेद में इस प्रकार की गई है–

आर्वावतो न आगह्यथो शक्र परावतः।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि।।[4]

---

1. अथर्ववेद, 13.1.2.
2. यजुर्वेद 12.11.
3. द्र. दयानन्द भाष्य, भावार्थ यजुर्वेद 12.11.
4. ऋग्वेद 3.37.11.

अर्थात् "जैसे मनुष्य प्रीति से राजा को बुलायें और वह राजा उन प्रजाजनों के समीप अपने देश से प्राप्त हो और उस देश से अन्य देश में भी जायें। इस प्रकार राजा और प्रजाजन परस्पर स्नेह की वृद्धि के लिए कर्मों को निरन्तर करें।"[1] यहाँ स्पष्ट है कि राजा अपने देश और परदेश कहीं से भी राज्य करने के लिए बुलाया जा सकता है। राजा के गुणोचित आदर्श व्यक्ति जहाँ भी प्राप्त हो जाये तब ही उसे बुला लेना चाहिए। वेद में अन्यत्र भी वर्णित है–

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्।
इमा जुषस्व नो गिरः।।[2]

जो राष्ट्रोन्नति के विघ्नों को मारने वाला सम्राट् है, वह इधर से अर्थात् अपने राष्ट्र में से और दूर देश से प्रजा के समीप आए, प्रजा की इन वाणियों को सेवन कर अर्थात् प्रजा की आवश्यकताओं को सुनकर और उन्हें पूर्ण करे। अतः यहाँ भी पूर्वोक्त बात ही ध्वनित होती है।

अन्ततः राजा अपनी प्रजाओं में से, अपने राष्ट्र के समीपस्थ राष्ट्र की प्रजाओं और बहुत दूर के राष्ट्र की प्रजाओं में से कहीं से भी अपने यहाँ राज्य करने के लिए बुलाया जा सकता है। उपर्युक्त वेद मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि भिन्न राष्ट्रियता का व्यक्ति भी आवश्यकता पड़ने पर बुलाकर अपने राष्ट्र का राजा बनाया जा सकता है।

राजा के कर्त्तव्य :–

महर्षि दयानन्द ने राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट निर्देश किया है कि "प्रजापालन करना ही राजाओं का परम धर्म है।"[3] राजा को अपने कर्त्तव्य–कर्मों के

---

1. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 3.37.11.
2. ऋग्वेद 3.40.8.
3. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास), पृ.

व प्रजा के प्रति उसी प्रकार निष्ठावान् होना चाहिए। जिस प्रकार माता–पिता के अपनी सन्तान के प्रति होते हैं।

राजा का विशेष कर्त्तव्य राष्ट्र एवं समाज के प्रति यही होना चाहिए कि वह राज्य की व्यवस्था को पथ भ्रष्ट न करे और स्वयं दुर्गुणों से सदा दूर रहे। राजा के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों के विषय में दयानन्द लिखते हैं कि– राजा को प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर व डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करने वाला होना चाहिए।''[1] ''जो राजा सब प्रजाओं को अच्छी प्रकार संवर्धित करता है तो उसको प्रजाजन भी स्वतः संवर्धित करते हैं। यदि राजा लोककल्याणकारी नहीं है तो प्रजा भी उसे सुविकसित नहीं करती है।''[2] राजा को अपने अङ्गों के समान राज्य का पालन इस प्रकार करना चाहिए जैसा कि–

पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाश्च श्रेणी।
उरु अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः।।[3]

मन्त्र में कहा गया है कि– ''जो उत्तम राज्य है, वो मेरी (राजा की) पीठ के समान है, जो राज्य–सेना और कोष है, वह मेरे (राजा के) हस्त का मूल और उदर के समान तथा जो प्रजा के सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, वो मेरे (राजा के) कण्ठ और श्रेणी अर्थात् नाभि के अधोभाग के समतुल्य, जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है, वो ही अरत्नी और ऊरु अङ्ग के समान है तथा जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना है, यह मेरी (राजा की) जानु के समान है। जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म हैं, ये सब राजा के अङ्गों के समान है।''[4] इसके अतिरिक्त

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (राजाप्रजाधर्मविषय)
2. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद–9.31.
3. यजुर्वेद 20.8.
4. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 20.8.

यह भी उल्लेख मिलता है कि राजा को वेददिशास्त्रविद्या की भी वृद्धि करनी चाहिए।

राजा प्रजा में 'कर' प्रबन्ध करे, जिसका विवरण स्मृति में इस प्रकार वर्णित है कि–

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रं कल्पयेत्सततं करान्।।[1]

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष व प्रजाजन सुखमय फल से युक्त हों वैसे विचार करके राजा तथा राज्यसभा राज्य में कर–स्थापन करें।

राजा को निरन्तर राज्य की वृद्धि करनी चाहिए। राजा के दिन–रात राजकार्य म प्रवृत्त रहना चाहिए और कोई राजकार्य बिगड़ने नहीं देना चाहिए, यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है।[2]

शिक्षा–व्यवस्था राजा को सबकी जन के लिए अनिवार्य करनी चाहिए–

आसुष्मा णो मघवनिनन्द्र पृत्सु अस्मभ्यं महि वरिवः सुगं कः।।
अपां तोकस्य तनयस्य जेष इन्द्र सूरीन् कृणुहि स्मा नो अर्द्धम्।।[3]

राजा वैसा यत्न करे जैसे अपनी सेनायें उत्तम प्रकार शिक्षित जीतने वाली और बलयुक्त हों और सम्पूर्ण बालक और कन्यायें ब्रह्मचर्य्य से विद्यायुक्त होकर समृद्धि को प्राप्त हुए सत्य, न्याय और धर्म का निरन्तर सेवन करे।[4] वेद में वर्णित है कि– "न्याय से प्रजा का पालन तथा विद्या प्रदान करना ही राजाओं का यज्ञ है।"[5] राजा को चाहिए

---

1. मनुस्मृति 7.128.
2. सत्यार्थ प्रकाश (षष्ठसमुल्लास),
3. ऋग्वेद 6.44.18.
4. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 6.44.18.
5. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 9.1.

कि अपने राज्य में प्रयत्न के साथ सब स्त्रियों को विद्वान् और उनसे उत्पन्न शिशुओं को विद्यायुक्त धाइयों के अधीन करे जिससे किसी के बालक विद्या और अच्छी शिक्षा के बिना न रहें, तथा स्त्रियाँ भी दुर्बल न हों।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द ने स्वरचित साहित्य में राजा की राष्ट्रीयता एवं राजा के कर्त्तव्य कर्मों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है, जिसका निदर्शनमात्र यहाँ दिखाने का प्रयास किया गया है।

4.4. राज्य सभाएं और उनके सभासद्–

राज्य–सभाएं–

महर्षि दयानन्द ने जिस राजनीति का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है, उसका मुख्य केन्द्र–बिन्दु राज्य–सभाओं को माना जा सकता है। राज्यव्यवस्था में समुचित रूपेण संचालनार्थ वे त्रिविध राज्य–सभाओं के निर्माण पर अत्यधिक बल देते हैं। वे राज्य–रक्षा का यथावत् प्रकार निर्दिष्ट करते हुए विद्यार्य–सभा, धर्मार्य–सभा तथा राजार्य–सभा इन तीन राज्य–सभाओं को आवश्यक बताते हुए कहते हैं कि–

"त्राणि राजना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।"

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिल के (विदथे) सुखप्राप्ति और विज्ञान वृद्धिकारक राजा–प्रजा के सम्बन्ध रूप व्यवहार में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा, अर्थात् विद्यार्य–सभा, धमार्थ–सभा, राजार्थ –सभा नियम करके (पुरुणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र–प्रजा–सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।[2]

---

1. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 10.7.
2. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 128.

महर्षि दयानन्द ने इसी मन्त्र के व्याख्यान प्रसंग में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तीन सभाओं के निर्माण की चर्चा इस प्रकार की है–

"इदमत्र बोध्यम् राजार्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्याण्येव भवेयुः।
द्वितीयाऽऽर्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती एव कार्ये भवतः।
तृतीयाऽऽर्यधर्मसभा तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चायेदेशेन कर्त्तव्या।।"

राज्यव्यवस्था के संचालन के लिए तीन सभाओं का निर्माण हो। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि– "तीन प्रकार की सभा को ही राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीन हैं, प्रथम राज्य प्रबन्ध के लिए 'आर्यराजसभा' कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य की सिद्ध किये जायें, दूसरी 'आर्यविद्यासभा' कि जिससेसब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए, तीसरी 'आर्यधर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे।"[1] इन तीनों सभाओं में अनेक सदस्य होने चाहिए। जो सभा के योग्य सभासद् हैं वे सभा की व्यवस्था का पालन किया करें।

महर्ष दयानन्द लिखते हैं– "उन सभासदों में से एक राजा होता है जो अपनी योग्यता के आधार पर सभापति बना दिया जाता है। एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार नहीं देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहें।"[2] सभाओं के सदस्यों के विषय में एक अन्य प्रमाण भी मिलता है कि– "इन सभाओं में राजपुरुष और प्रजापुरुष नियत रहें। राजपुरुष राजोन्नति और प्रजापुरुष प्रजा की वृद्धि में प्रयत्न किया करें और तीनों सभाओं के विचारानुकूल नये नियम प्रचलित किये जायें।"[3]

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, (राजप्रजाधर्मविषय)
2. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास), पृ. 129.
3. पं. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. 633.

यह कहा गया है कि राज्यव्यवस्था को सामर्थ्य प्रदान हेतु राज्य में निर्धारित नियमों का उल्लंघन कोई भी व्यक्ति न करे, यदि कोई करे तब वह दण्डनीय हो। तीन सभायें और उनका एक सभापति निर्वाचित करने के बाद उन सभाओं के अन्तर्गत कुछ समितियाँ और सेना आदि का निर्माण उचित है।[1]

सभापति राजा को चाहिए कि अपने पुत्रों के तुल्य प्रजा और सेना के सभ्य पुरुषों को प्रसन्न रखे और परमेश्वर के तुल्य पक्षापात छोड़कर सदा न्याय करे। धार्मिक सभ्यजनों की तीन सभा होनी चाहिए। उनमे से एक राजसभा जिसके अधीन राज्य के सब कार्य चलें और सब उपद्रवनिवृत्त रहें, दूसरी विद्यासभा जिससे विद्या का प्रचार अनेकविधि किया जावे और अविद्या का नाश होता रहे और तीसरी धर्मसभा जिससे धर्म की उन्नति और अधर्म की हानि निरन्तर की जाय। सब लोगों को उचित है कि अपने आत्मा और परमात्मा को देखकर अन्याय मार्ग से अलग हों, धर्म का सेवन और सभासदों के साथ समयानुकूल अनेक प्रकार से विचार करके सत्य और असत्य के निर्णय करने में प्रयत्न किया करें।

महर्षि दयानन्द ने इसी प्रकार अन्यत्र[2] ग्रन्थों में भी तीन सभाओं की स्थापना के लिए निर्देश दिये हैं।

सभासद्–

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सभासदों के गुणों का विवेचन भी किया है। उनके मतानुसार सुयोग्य, सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तियों को ही सभाओं के सभासद् पदों पर नियुक्त करना चाहिए। वे लिखते हैं कि जिन्होंने चारों वेदों की कर्मोपासनाज्ञान विद्याओं

---

1. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास)
2. (क) द्र.– स्वामी दयानन्द, संस्कारविधि गृहाश्रम, पृ. 251.
   (ख) ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृ. 374.
   पू.प्र. पृ. 93–99, 111–112.

के जानने वालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, आत्मविद्या अर्थात् परमात्मा के गुण--कर्म--स्वभावरूप को यथावत् जानने रूप ब्रह्मविद्या और लोक से वार्त्ताओं का सीख है वे ही सभासद् हो सकते हैं।[1] इसके साथ ही जो 'इन्द्रियों को जीत के सदा धर्म में वर्तें और अधर्म से परे रहें, योगाभ्यास भी रातदिन नियत समय में करते रहें, वही सभासद् होने चाहिए। क्योंकि प्रजा को वश में तभी किया जा सकता है, जब अपनी इन्द्रियाँ वश में हों।[2]

महर्षि ने सभासदों के विषय में निर्देश दिया है कि "तीनों सभाओं अर्थात् विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्यसभाओं में मूर्खों की कभी भर्ती न करें, किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे।[3] जो वेदविद्या वा विचार से रहित, ब्रह्मचर्य सत्यभाषणादि व्रत, जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्तमान हैं, इन हजारों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती है।[4]

सभासदों के गुणों पर महर्षि ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी प्रकाश डाला है वे लिखते हैं– (व्रते) "यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) स विज्ञानवान् राजसभार्महति नेतरश्च। (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान्

---

1 (क) स्वामी दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास), पृ. 134.

(ख) त्रैविधेभ्यस्त्रयां विद्यात् दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः।। मनुस्मृति 7.43.

2. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) 134.
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः। मनुस्मृति 7.44.

3. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठ समुल्लास), पृ. 133.

4. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास), पृ. 133.
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते।। मनुस्मृति 12.114.

पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्) वायुवद् दूतप्रचारेण विदितसर्व व्यवहारान् सभासदः कुर्य्यात्। केशास्सूर्यरश्मयस्तद्वत् सत्यन्यायप्रकाशकान् सर्वहित चिकीर्षून् धर्मात्मनः सभासदः स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्यः।"[1] अर्थात् महर्षि वेदभाष्य में भी सभासदों के लिए कहते हैं कि वे निष्कलंक कुलपरम्परा में उत्पन्न, शास्त्रवित्, धार्मिक, कृतज्ञ, कुलीन, बहुदर्शी, ऐश्चर्ययुक्त एवं धर्म–निष्ठ हों। मिथ्यावादी, व्यभिचारी, अजितेन्द्रिय अन्यायाचरण करने वाले चोर व दस्यु न हों। अन्यत्र भी वे लिखते हैं कि– "यत्र सभायां मौलाः शास्त्रविदो धार्मिकाः सभासदः सत्यं न्यायं कुर्युर्विद्यावयोवृद्धः सभेशश्च स्यात्तत्राऽन्यायस्य प्रवेशो न भवति।" अर्थात् जहाँ सभा में मूल जड़ के अर्थात् निष्कलंक कुल परम्परा से उत्पन्न हुए और शास्त्रवेत्ता धार्मिक सभासद् सत्य न्याय करें और विद्या तथा अवस्था से वृद्ध सभापति भी हो वहाँ अन्याय का प्रवेश नहीं होता है।[2] इसी भांति वे "त एव मनुष्या राज्यं कर्तुं वर्धयितुं च शक्नुयुर्ये धर्मिष्ठान् कृतज्ञान कुलीनान् विदुषः सभायां स्थापयेयुस्तत्र स्थापनसमये शपथैर्यूयमन्यायं कदचिन्मा करिष्यथेति प्रलम्भयेयुः।।"[3] आदि लिखकर बताते हैं कि वे ही मनुष्य राज्य करने और बढ़ाने के लिए समर्थ हो सकते हैं जो धर्मिष्ठ, कृतज्ञ, कुलीन, विद्वानों को सभा में स्थित करें तथा वहाँ स्थापन–समय में शपथपूर्वक आप लोग अन्याय कभी नहीं करोगे' ऐसा वचन ले लेवें। जहाँ बहुदर्शी, अन्नादि ऐश्वर्य से संयुक्त, सज्जनों से सत्कार को प्राप्त, एक धर्म ही में जिनकी निष्ठा है उन विद्वानों की सभा सत्यन्याय को करती है, उसी राज्य में सब मनुष्य ऐश्वर्य और सुख में निवास करते हैं।[4]

"यस्य सभायां राज्ये वा पूर्णविद्या धार्मिका वर्त्तन्ते मिथ्यावादिनो व्यभिचारिणोऽजितेन्द्रियाः परुषवाचोऽन्यायाचारा स्तेना दस्यवश्यच न सन्ति

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्म, पृ. 250.
2. दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 1.171.5.
3. वही 5.43.12.
4. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 19.45.

स्वयमप्येवंभूतोऽस्ति स एव चक्रवर्त्ति राज्यं कर्तुमर्हति नातो विरूद्धो जन इति बोध्यम्।।" शब्दों द्वारा वे बतलाते हैं कि जिसकी सभा वा राज्य में पूर्णविद्यायुक्त धार्मिक मनुष्य सभासद् वा कर्मचारी होते हैं और जिसके सभा वा राज्य में मिथ्यावादी, व्यभिचारी, अजितेन्द्रिय, कठोर वचनों के बोलने वाले, अन्यायकारी, चोर और डाकू आदि नहीं होते और आपभी इसी प्रकार का धार्मिक हो तो वही पुरुष चक्रवर्ती राज्य करने योग्य होता है।[1]

4.5. दण्डनीति, युद्धनीति, अर्थनीति और सैन्यनीति :–

(क) दण्डनीति :–

राष्ट्र को प्रगतिशील बनाने के लिए दण्डव्यवस्था का होना परम आवश्यक है। यदि दण्डव्यवस्था न हो तो राष्ट्र में सर्वत्र भ्रष्टाचार, अत्याचार और अन्याय का ही साम्राज्य होगा। अपराधी दण्ड–मुक्त हो जायेगा और निर्दोष व्यक्ति को अन्याय मिलेगा। सर्वत्र भ्रष्ट मनुष्यों का शासन होगा और वे राजनीति को अनीति में बदल देंगे। अतः राष्ट्र को शान्तिमय बनाये रखने के लिए दण्डव्यवस्था का होना अत्यन्त उपयोगी है।

महर्षि दयानन्द इस प्रसंग में लिखते हैं कि– "राजा के मुख्य दो अंग हैं कि अच्छे कार्य करने वालों को पुरस्कार दे और बुरे कार्य करने वालों को दण्ड देना।..... नहीं तो वे राजाज्ञा को कुछ भी नहीं समझेंगे।"[2] महर्षि ने इसी विषय पर अन्यत्र भी लिखा है कि– "स्वराज्य और परराज्य का जो चिकीर्षित और अच्छे–बुरे कार्य होते हैं,उनको दूत द्वारा यथावत् जानकर दुष्ट कार्यकर्त्ताओं को दण्ड और उत्तम कार्य करने वालों का सत्कार यथायोग्य कीजिए, जिससे उत्तम कार्य बढ़ें और दुष्ट कर्म घट जाएं।"[3] दण्ड को ही विद्वान् मनुष्य धर्म मानते हैं। प्रजा की रक्षा दण्ड से ही सम्भव है

---

1. दयानन्दभाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 9.35.
2. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. 711.
3. वही, पृ. 756.

और बिना दण्डव्यवस्था से सब जनों का प्रकोप भी निश्चित ही हो जाता है।

अतः वेद में लिखित है कि राजा अपराधी को दण्ड दे– "हे मनुष्यो! जो मनुष्य दुष्टों का ताड़न करता है, श्रेष्ठों का सत्कार करता है, अन्य की वृद्धि देखकर द्वेष करने वालों को दण्ड देता और प्रसन्नों का सत्कार करता हुआ सम्पूर्ण वादी और प्रतिवादी के वचनों को यथावत् सुनकर सत्य न्याय को करता है वही राजा होने के योग्य है।"[1] राजा में दण्ड देने वाले जिन गुणों का होना चाहिए, उनका वर्णन मिलता है कि– "जो उस दण्ड को चलाने वाला है वह सत्यवादी; विचार करके कार्य का कर्त्ता, बुद्धिमान्, विद्वान्, धर्म, काम और अर्थ का यथावत् जानने वाला हो।"[2] "जो पवित्र आत्मा, सत्याचार और सत्पुरुषों का सङ्गी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलने वाला, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् है वही न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है"।[3] राजा को उसी प्रकार दुर्गुण रहित होना चाहिए। "जो विषयों में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करने वाला, क्षुद्र, नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है। जब दण्ड बड़ा तेजोमय होता है उसको अविद्वान् अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता तब वह दण्ड धर्म से रहित राजा ही का नाश कर देता है।"[4] क्योंकि जो आप्त पुरुषों

---

1. द्र– दयानन्दभाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 6.47.16.
2. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) पृ. 132.
3. शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
   प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता।।
   मनुस्मृति 7.31.
4. तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेनभिवर्धते।
   कामान्धो विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते।।
   दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चचाकृतात्मभिः।
   धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्।।
   मनुस्मृति– 7.27–28.

के सहाय और सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता।[1] "इनके साथ ही राजा को निष्पक्ष होना चाहिए। चाहे गुरु हो, चाहे पुत्र आदि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो।"[2] उचित अपराधी को ही दण्ड देना चाहिए, अनपराधी को नहीं, अतः इस सन्दर्भ की पुष्टि स्मृतिकार ने इस प्रकार की है :–

अदण्डयान्दण्डयन्राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।।[3]

जो राजा दण्डीनीयों को न दण्ड और अदण्डनीयों को दण्ड देता है अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता है और जिसको दण्ड देना न चाहिए उसको दण्ड देता है, वह जीवित रहता हुआ बड़ी निन्दा को और मरने के बाद नरक को प्राप्त होता है। इसलिए जो अपराध करे उसको दण्ड दें और अनपराधी को दण्ड कभी न दें। जो जितना अपराध करे उसको उतना ही दण्ड और जो जितना अच्छा कार्य करे उसको उतना ही परितोषित देना चाहिए, अधिक वा न्यून नहीं, चाहे माता–पिता ही क्यों न हों।[4]

---

1. सोऽसहायेन मूढेनलुब्धेनाकृतबुद्धिना।
   न शक्यो न्यायतो नेतुं सकेतेन विषयेषु च।।
   मनुस्मृति 7.30.
2. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
   आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।
   मनुस्मृति 8.350.
3. मनुस्मृति 8.128.
4. भगवद्दत्त,
   ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. 756.

महर्षि दयानन्द ने सुविचारित और अविचारित दण्ड के महत्त्व का वर्णन करते हुए लिखा है कि– "जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाये तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो बिना विचारे चलाया जाये तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है।"[1] सुविचारित दण्डव्यवस्था में दण्ड का प्रयोग अन्य उपायों की निष्फलता होने पर दण्ड अन्तिम अस्त्र होता है। महर्षि लिखते हैं कि– जहाँ साम (मेल) दाम (कुछ देकर), भेद (तोड़–फोड़) से शत्रु वश में न आये वहीं दण्ड प्रचारित करना चाहिए।[2] साम, दाम, भेद, दण्ड की नीति जहाँ शत्रु के साथ प्रयोग होती है वहाँ अपराधी के लिए भी इसका प्रयोग हो सकता है।

महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि यदि राजपुरुष अपराध करें तब– "जो राजपुरुष अन्याय से वादी–प्रतिवादी से गुप्त धन लेकर पक्षपात से अन्याय करें राजा उसका सर्वस्व हरण करके, यथायोग्य दण्ड देकर, ऐसे देश में रखें कि जहाँ से वह पुनः लौटकर न आ सके। क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाये तो उसको देखकर अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट कार्य करेंगे और दण्ड दिया जाये तो बचे रहेंगे।"[3] अपराध में प्रजा से राजपुरुषों पर अधिक दण्ड होना चाहिए।[4] दयानन्द लिखते हैं– "जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड हो अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए। मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उनसे न्यून को सात सौ गुणा और उससे भी न्यून को छः सौ गुणा दण्ड हो। इसी प्रकार उत्तम–उत्तम अर्थात् जो एक छोटे से छोटा भृत्य

---

1. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) पृ. 132.
2. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. 631.
3. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) प
4. भगवद्दत्त, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. 631.

अर्थात् चौकीदार है उसको आठ गुणे दण्ड से कम नहीं होना चाहिए। क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न हो तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर दें। इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्य पर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए।''[1] वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करें उस शुद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बतीस गुणा, ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौ गुणा अथवा एक सौ अठाईस गुणा दण्ड होना चाहिए अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो,उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए।[2]

राजा को अनेक प्रकार से अपराधी को दण्ड देना चाहिए। ''दण्ड क उपस्थेन्द्रिय,उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आँख, नाक, कान, धन और देह ये स्थान हैं कि जिन पर दण्ड दिया जाता है।''[3] स्मृति में भी वर्णित है– ''प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा', दूसरा 'धिक्' दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया, तीसरा उससे ''धन लेना'' और चौथा 'वध' दण्ड अर्थात् उसको बेंत से मारना वा सिर काट देना।''[4] लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रूपये दस आने दण्ड लेना, परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम और धनाढ्य हों तो उनसे दूगुना, तिगुणा और चौगुना

---

1. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) पृ. 160.
2. अष्टापाद्यं तु शुद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम्।
   षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च।।
   ब्राह्मणस्य चतुः षष्टिः पूर्णं वाऽपि शतं भवेत्।
   द्विगुणा वा चतुः षष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः।।
   मनुस्मृति 8.337–338.
3. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) पृ 159.
4. वाग्दण्डं प्रथम कुर्याद्विग्दण्डं तदनन्तरम्।
   तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्।। मनुस्मृति 8.129.

तक भी ले अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो उसका जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करें।[1] चोर जिस प्रकार जिस–जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरूद्ध चेष्टा करता है उस–उस अङ्ग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा हरण अर्थात् छेदन कर दें।[2] जो स्त्री अपनी जाति गुण के घमण्ड से पति को छोड़कर व्यभिचार करे राजा उसको बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई कुत्तों से कटवाकर मार डाले।[3]

अन्ततः दण्ड देने वाला राजा सत्यावादी, बुद्धिमान, नीतिशास्त्र को जानने वाला और न्याय–युक्त गुणों वाला हो। राजा अपनी निष्पक्ष भावना से दण्ड देने का उत्तराधिकारी होता है। दण्ड–व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य अपराधवृत्ति को नष्ट करना है। राजा और राजपुरुषों को भी उनके अपराध करने पर दण्ड होना चाहिए। प्रजा पुरुषों से राजपुरुषों पर अधिक दण्ड देने का प्रावधान किया गया है और राजा को सबसे अधिक दण्ड देने की व्यवस्था की गई है। प्रजा की अपराधी मनुष्यों से रक्षा करने के लिए दण्डव्यवस्था का होना आवश्यक है।

(ख) युद्ध नीति :–

महर्षि दयानन्द ने राजा की युद्धनीति[4] पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि राष्ट्र की सुरक्षा का प्रबन्ध कर, राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जाये। राजा युद्ध के समय अस्त्र–शस्त्र, यान, वाहन, खानपानादि अन्य वस्तुएँ लेकर अर्थात् यात्रा की सब

---

1. अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौच तत्त्वतः।।
   सारापराधो चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत्।।
   मनुस्मृति 8.126.
2. येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
   तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः।।
   मनुस्मृति 8.34.
3. भर्त्तारं लङ्घयेद्या– तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
   तां खर्भिः खदयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते।। मनुस्मृति 8.37.1.
4. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) पृ. 150.

सामग्री यथाविधि करके सेना के साथ पूर्ण बलयुक्त होकर जाये, क्योंकि युद्ध के समाप्त होने में अधिक समय भी लग सकता है। राजा शत्रु के नगर के समीप तीन प्रकार के मार्गों से धीरे–धीरे जाये अर्थात् एक है स्थल (भूमि) मार्ग में, पैदल, रथ, अश्व, और हाथी के साथ जाये, दूसरा है जल (समुद्र वा नदियों) मार्ग में नौका के साथ जाये और थोड़े जल में हाथियों पर सवार होकर वृक्ष और झाड़ी में बाण के साथ, स्थूल बालू में तलवार और ढाल को लेकर जायें, तीसरा है वायु (आकाश) मार्गों को शुद्ध बनाकर विमानादि यानों से जाये। अतः राजा तीनों मार्गों में अपनी सेना का विस्तार करते हुए और उन्हें सैनिक शिक्षा देकर युद्ध करने के लिए जाये। जो ऊपर से मित्र हो, भीतर से शत्रु उस पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिए। जहाँ से भय विदित हो उसी ओर सेना को राजा फैला दे। चारों दिशाओं में सब सेना के पतियों को रखकर राजा मध्य में स्वयं रहे, क्योंकि राजा का जीवित रहना आवश्यक है यदि युद्ध में राजा ही पहले मारा जाता है तब युद्ध ही समाप्त हो जायेगा और पराजय भी निश्चित ही हो जायेगी। इसलिए सेना का कर्त्तव्य है कि वे राजा को सुरक्षित रखें। सेनापति जो कि आज्ञा को देने वाला है वह सेना के साथ लड़ने–लड़ाने वाले वीरों को आठों दिशाओं में रखें अर्थात् चार दिशाओं की सेना का बीच की दिशाओं की सेनाओं के साथ सम्पर्क रहना चाहिए, ताकि जिस ओर से लड़ाई होती हो उसी ओर सब सेना का मुख रहे परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रहे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु के द्वारा घात होने की सम्भावना होती है। जो गुल्म अर्थात् दृढ–स्तम्भों के तुल्य, युद्धविद्या में सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित प्रज्ञ, युद्ध करने में चतुर, भयरहित और जिनके मन में किसी भी प्रकार का विकार न हो, उनको सेनापति सेना के चारों और रखें। यदि थोड़े से पुरुषों से बहुत के साथ युद्ध करना हो तो उन्हें मिलकर लड़ायें और कार्य हो तो उन्हीं को शीघ्र फैला दें। किसी नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर जब युद्ध करना हो तब (सूचीव्यूह) तथा (वज्रव्यूह) जैसे दुधारा खड़वा दोनों ओर से काटा करता है वैसे युद्ध करते जाये और प्रविष्ट भी होते चलें अर्थात् अनेक प्रकार के व्यूह (मार्ग) बनाकर सेना को लड़ायें। यदि सामने शतघ्नी (तोप) वा भुशुण्डी (वन्दूक) छूट रही हो तब (सर्पव्यूह)

अर्थात् सर्प के समान सोते–सोते चले जायं, जब तोपों के पास पहुँचे तब उनको मार वा पकड़ कर तोपों का मुख शत्रु की ओर घुमा कर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें। एक बार धावा बोल कर सेनापति शत्रु की सेना को छिन्न–भिन्न करके पकड़ ले अथवा भगा दे। युद्ध के समय सेनापति लड़ने वालों को उत्साहित वा हर्षित करे, लड़ाई व्यूह के बिना न करे और न कराये, लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक–ठीक लड़ती है वा कपट रखती है। शत्रु को चारों ओर से उचित समय समझकर घेर कर रोके रखें और उसके राज्य को पीड़ित कर, शत्रु के चारा, अन्न, जल, इन्धन को नष्ट और दूषित कर दें। शत्रु के नगर में प्रकोट, तालाब और खाई को तोड–फोड़ दे, रात्रि में उनको भय दे और जीतने का उपाय करे। युद्ध जब समाप्त हो जाये तब शौर्य और उत्साह जैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को खान–पान, अस्त्र–शस्त्र, सहाय और औषधादि से प्रसन्न रखें। जीत कर शत्रुओं से प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखवा ले और जो उचित समय समझे तब उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा बना दे और उससे लिखवा ले कि तुमको हमारी आज्ञानुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है,[1] उसके अनुसार चलकर न्याय से प्रजा का पालन करना होगा, ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके समीप रखे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो। जिसकी पराजय हो, उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर, रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और जिससे उसका अपमान हो ऐसा न करे, उसका सत्कार करते हुए उसको बन्दीगृह में रखे, जिससे वह पराजय के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे,[2] धर्मशास्त्र में भी उल्लेख आया है कि–

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां कालयुक्तं प्रशस्यते।।[3]

---

1. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास) पृ. 151.
2. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 151.
3. मनुस्मृति 7.204.

अर्थात् राष्ट्र में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीति का कारण है और समय पर विशेष करके उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों को देना बहुत श्रेष्ठ है और उसको कभी न चिढ़ावे, न उसकी हंसी करें, उसके सामने कभी ऐसा न कहें कि हमने तुझको पराजित किया है, किन्तु आप हमारे भाई हैं इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करें।

अन्ततः राजा के राष्ट्र की सुरक्षाव्यवस्था के लिए ऐसी युद्धनीति को बनाना चाहिए, जिससे राष्ट्र की बाहर और आन्तरिक शत्रुओं से सदैव रक्षा हो सके। राजा को विभिन्न उपायों द्वारा शत्रु–देशों से अपने राष्ट्र की सुरक्षा के प्रबन्ध करने चाहिए। राष्ट्र कल्याण के लिए जो कि परमावश्यक है।

(ग) अर्थनीति :– अर्थव्यवस्था–

कोष को धन से युक्त करने का मुख्य साधन अर्थव्यवस्था करना है। राष्ट्र के विकास एवं उन्नति के लिए अर्थव्यवस्था का होना आवश्यक है। राजा को प्रजा के हितों की रक्षा के लिए ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे धन की आय और व्यय उचित प्रकार से हो। महर्षि दयानन्द का मन्तव्य है कि "अर्थ वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको 'अनर्थ' कहते हैं।"[1] इसका अभिप्राय यह है कि ईमानदारी, न्यायपूर्वक और परिश्रम करके राज्य नियमानुकूल अर्जित किया हुआ धन 'अर्थ' होता है इसके विपरीत बेईमानी, शोषण, चोरी, अन्यायपूर्वक आदि अनैतिक उपायों से अर्जित किया हुआ धन 'अनर्थ' सिद्ध होगा, ऐसा धन अन्ततः फलदायी न होकर दुःखदायी बन जाता है। राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिए सु–अर्थ–व्यवस्था होनी परमावश्यक है। अतः राजा के लिए उचित है कि वह अपने राष्ट्र में अर्थ–संग्रह कर–प्रणाली द्वारा करे।

---

1. सत्यार्थप्रकाश (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश), पृ. 562.

अर्थसंग्रह हेतु कर–प्रणाली लागू करके राजा प्रजा से निश्चित 'कर' ग्रहण करने का अधिकारी होता है। "जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मछली को पकड़ने के लिए ताकता है वैसे राजा अर्थ–संग्रह का विचार किया करे।"[1] "राजा को आय के अनुकूल कर–व्यवस्था को लागू करना चाहिए, अतः जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष वा प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त हों वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में कर–स्थापन करें। जैसे जोंक, बछड़ा और भंवरा थोड़े–थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा–थोड़ा वार्षिक 'कर' ग्रहण करे।"[2]

राजकार्य के चलाने के लिए आजकल भी करों की व्यवस्था है, लगभग सभी वस्तुओं पर बिक्री कर लगता है ताकि राजकार्य का कोष सुचारु रूप से चलता रहे। एक ओर जहाँ कर ग्रहण के लिए सीमा निर्धारित की है, वहीं दूसरी ओर यदि राष्ट्र पर कोई आपत्ति आ पड़े तो उस समय राजा आय का चौथा भाग भी ग्रहण कर सकता है अर्थात् कर को बढ़ा भी सकता है इससे राजा दोषी नहीं होता। मनु के मतानुसार इस प्रकार के कर में बढ़ोतरी प्रजा की रक्षा के लिए ही की जाती है।[3] मनु के मत को कौटिल्य ने भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि आपत्ति के समय राजा प्रजा से स्नेहपूर्ण

---

1. महर्षि दयानन्द प्रणीत राजधर्म, लक्ष्मीदत्त दीक्षित, पृ. 30.
2. (क) यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
   तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।।
   (ख) यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
   तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयत्सततं करान्।।
   मनुस्मृति 7.128–129.
3. चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।
   प्रजा रक्षन्परं शक्त्या किल्विशात्प्रतिमुच्यते।।
   मनुस्मृति 10.118.

याचना करते हुए करों में भारी वृद्धि कर सकता है। आपत्ति के समय अन्न आदि का तीसरा या चौथा भाग भी ग्रहण कर सकता है।[1]

अतः 'करों' का निर्धारण करना प्रजा के सुखों पर आधारित हैं। आर्थिक समस्याओं के निवारण के लिए राजा को अपने देश में करों की स्थापना करना उचित है। परन्तु सब मनुष्य समुदाय की सुख–सुविधा के लिए राजा को अपने राष्ट्र के प्रत्येक राज्य में उचित 'कर' निर्धारित करना चाहिए। व्यापार करने वाले धनी वर्ग से अधिक 'कर' ग्रहण करना चाहिए और मध्यम वर्ग से कम 'कर' लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अनीति और अन्यायपूर्वक धन लेने पर विरोध होना चाहिए और जो राजपुरुष ऐसा करें उन्हें दण्ड देना चाहिए, जिससे अन्य राजपुरुष भी अन्यायपूर्वक कर–संग्रह न करें। 'अर्थसंग्रह की वृद्धि एवं व्यय के लिए चार प्रकार के पुरुषार्थों का वर्णन स्मृति में हुआ है– तद्यथा–

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।।[2]

अर्थात् राजा और राजसभा अलब्ध धन की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त धन की प्रयत्न से रक्षा करें, रक्षित धन को बढ़ायें और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेद मार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगायें। इन चार प्रकार के पुरुषार्थों के प्रयोजन को जानकर आलस्य छोड़कर इनका भली–भांति नित्य अनुष्ठान करना चाहिए, अतः दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ाये और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य

---

1. कोशमकोशः प्रत्युत्यन्यार्थ कचक्ष..... ।।
कौटिलीय अर्थशास्त्र, 5.2.

2. मनुस्मृति 7.99.

व्यय करें।[1] उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राजा और राजसभा अप्राप्त धन को प्राप्त करें। जिसको दण्ड देना उचित समझें उसे दण्ड भी दें। 'करों' की चोरी करना इसका कारण है। इस समस्या को समाप्त करने के लिए ईमानदार आयकर अधिकारी और उचित दण्डव्यवस्था का होना आवश्यक है। यदि इन दोनों उपायों को कठोरता से पालन किया जाए तो ये 'करों' की चोरी को समाप्त करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

राज्य की आय का व्यय करने के विषय में नियम है कि– "सब राज्य की आय में से दशांश धर्म–आदि के लिए नियत रखें। उससे वेदविद्या, धर्म, सुशिक्षा की वृद्धि के लिए अध्यापक और उपदेशक प्रचारित करें। आपत्काल में राज्य और अनाथों की रक्षा भी उसी धन से करें। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि राज्य से आय के नवांशों में से दो भाग स्थिर कोष में दो अंश राज कुल, तीन अंश सेना विभाग, एक अंश स्थानविशेष और एक अंश शिल्पविद्या की उन्नति में लगायें।"[2]

राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में व्यापार, शिल्पविद्या, और उद्योगों के साथ–साथ कृषि और पशुपालन का भी विशेष महत्त्व है। अपने परिश्रम से सम्पूर्ण राष्ट्र का भरण–पोषण करने वाला वाला किसान है, अतः महर्षि उसे "राजाओं के राजा" कहते हैं और राजा उनका रक्षक है।[3] राजा के बिना जिस प्रकार राष्ट्र का संचालन असम्भव है उसी प्रकार कृषक के बिना राष्ट्र नहीं चल सकता। राष्ट्र के विकास के लिए गो–पालन[4] मुख्य आर्थिक आधार है क्योंकि गो–पालन से राष्ट्र को अत्यधिक आय होती है।

---

1. महर्षि दयानन्द और राजनीति, रामेश्वरानन्द सरस्वती, पृ.74.
2. सम्पादक, पं. भगवद्दत्त,
   ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन,द्वितीय भाग, पृ. 632.
3. सत्यार्थप्रकाश (षष्ठसमुल्लास)
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती, गोकरुणानिधि।

राजा के पारिवारिक व्यय के सम्बन्ध में भी प्रामाण मिलता है कि– "राजा अपना व अपने कुटुम्ब का नित्य नैमित्तिक व्यय भी नियमपूर्वक करे।"[1] "वह सर्वदा सन्तानों की शिक्षा में धन का व्यय करे, किन्तु विवाह, मृत्यु आदि में व्यय न करे।"[2] यही राजाज्ञा होना चाहिए।

अन्ततः राष्ट्र की उन्नति के लिए अर्थ–व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जब तक अर्थव्यवस्था ठीक नहीं होगी तब तक राष्ट्र कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। राष्ट्र में अर्थसंग्रह का प्रधान साधन आयकर है। देश के आर्थिक विकास के लिए करों का निर्धारण करना आर्थिक विषमताओं को दूर करने में परम सहायक है। इसके अतिरिक्त राज्य की आय ('कर' द्वारा तथा ब्याजादि द्वारा प्राप्त धन) का व्यय किस प्रकार किया जाए, इस विषय पर भी राजा और राजसभा को विशेष नियम बनाने चाहिए। अर्थव्यवस्था की वृद्धि के लिए राजा को नये–नये आय के साधनों पर विचार करना चाहिए।

(घ) सैन्य नीति :–

राष्ट्र की आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करना राजा अथवा राज्य के कार्यों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। अतः राष्ट्र की सुरक्षाव्यवस्था कैसी हो, वह उस देश की प्रबल सेना पर निर्भर करती है। राजा सेना का सबसे बड़ा अध्यक्ष होता है। सब सेना और सेनापतियों के ऊपर उसका पूर्ण अधिकार होता है। महर्षि दयानन्द राजा की दिनचर्या बताते हुए लिखते हैं कि "राजा सब मन्त्रियों से विचार कर, सभा में जाकर सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिलकर उनको हर्षित करे, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा

---

1. सम्पादक पं. भगवद्दत्त,
   ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ. 631.
2. वही, पृ. 630.

अर्थात् कवायत् कर–करा सब घोड़े, हाथी, गाय आदि का स्थान, शस्त्र–अस्त्रों का कोष, वैद्यालय और धन के कोषों को देखकर, इन सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाले। इस प्रकार राजा सब राज्य के कार्यों की उन्नति किया करे।"[1] जो विद्वान् राजा क्षत्रियकुल को सवंर्धित करता है, उसका तिरस्कार शत्रुजन नहीं कर सकते।[2] राजा द्वारा सैनिकों को शिक्षा देने के विषय में दयानन्द ने लिखा है कि– "राजा सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखाये और आप भी सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को सिखाये, जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं वे ही अच्छे प्रकार लड़–लड़ा जानते हैं, जब शिक्षा करे तब (दण्डव्यूह) दण्ड के समान सेना को चलाये, शकट अर्थात् गाड़ी के समान, (वराह) जैसे सुअर एक–दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं और कभी–कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं, वैसे (मकर) जैसे मगर पानी में चलते हैं वैसे सेना को बनाये, (सूचीव्यूह) जैसे सूई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षा से सेना को बनायें, जैसे (गरुड़) नीलकण्ठ ऊपर नीचे झपट्टा मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ाये।"[3] राजा की सेना के गुणकर्मों का वर्णन मिलता है– "राजा की सेना और सभा में जो पुरुष हों वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख–दुःख के सहन करने वाले और धन के लिए अत्यन्त पुरुषार्थी हों। क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्धस्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना, यही राज्य का स्वरूप है। जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है, वही राज्य का स्वरूप है। क्योंकि राज्यव्यवहार सबसे बड़ा है। इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना को रखकर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिए।"[4]

---

1. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 152–153.
2. द्र. दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 10–11.
3. सत्यार्थप्रकाश– षष्ठसमुल्लास, पृ. 150.
4. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (राजप्रथाधर्मविषय)

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है– "जो (आसन) स्थिरता, (यान) शत्रु से लड़ने के लिए जाना, (सन्धि) उनसे मेल कर लेना, (विग्रह) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, (द्वैष) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, (संश्रय) निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म यथायोग्य काय्र को विचार कर उसमें युक्त करना चाहिए।"[1] "राजा जो सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय, ये दो–दो प्रकार के होते हैं उनको यथावत् जाने। (सन्धि) शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के कार्य बराबर करता जाय, यह दो प्रकार का मेल कहलाता है। (विग्रह) कार्यसिद्ध के लिए उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया वा मित्र के अपराध करने वाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिए। (यान) अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मिल के शत्रु की ओर जाना यह दो प्रकार का गमन कहलाता है। स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाए अर्थात् निर्बल हो जाय, अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना, यह दो प्रकार का आसन कहलाता है।"[2] "कार्यसिद्धि के लिए

---

1. सत्यार्थप्रकाश– षष्ठसमुल्लास, पृ. 147.
2. (क) सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
   उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः।।
   (ख) समानायानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
   तथा त्वायतिसंयुक्तः सन्धिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः।।
   (ग) स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
   मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः।।
   (घ) एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
   संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते।।
   (ङ) क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
   मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्।।
   मनुस्मृति 7.162–166.

सेनापति और सेना के दो विभाव करके विजय करना दो प्रकार का द्वैध कहलाता है। एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा की शरण लेना, जिससे शत्रु से पीड़ित न हो दो प्रकार का आश्रय लेना कहलाता है। जब यह जान लें कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धैर्य करें। जब अपनी सब प्रजा वा सेना को अत्यन्त प्रसन्न उन्नतिशील और श्रेष्ठ जानें, वैसे अपने को भी समझें तब ही शत्रु से युद्ध कर ले।"[1] "जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भाव से जाने और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जाये तब, शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जाये। जब सेना, बल, वाहन से क्षीण हो जाए तब शत्रुओं को धीरे–धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थान में बैठा रहे। जब राजा शत्रु को अत्यन्त बलवान् जाने तब द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे। जब आप समझ ले कि अब शीघ्र शत्रुओं की चढ़ाई मुझ पर होगी तब किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले। जो प्रजा और अपनी सेना, शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके उसकी सेवा सब यत्नों से गुरु के सदृश नित्य

---

1. (क) बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थ सिद्धये।
द्विविध कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः।।

(ख) अर्थसंपादनार्थं च पीडयमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशश्च द्विविधः संश्रयः स्मृतः।।

(ग) यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चल्पिकां पीडां तदा सन्धि समाश्रयेत्।।

(घ) यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतिर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्।।

मनुस्मृति 7.167–170.

किया करे।"[1] जिसका आश्रय ले उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे तो वहाँ भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशङ्क होकर करे।[2] जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे, किन्तु उससे सदा मेल रखे और जो दुष्ट प्रबल हों उसी के जीतने के लिए ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है।[3] अन्ततः राजा की सैन्यनीति बहुत सुदृढ़ होनी चाहिए।

---

1. (क) यदा मन्येत भावेन दृष्टं हृष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति।।
(ख) यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन्।।
(ग) मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवतरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः।।
(घ) यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्।।
(ङ) निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा।।
मनुस्मृति 7.171–175.

2. यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशङ्कः समाचरेत्।।
मनु. 7.176.

3. सत्यार्थप्रकाश– षष्ठसमुल्लास, पृ. 148.

पंचम अध्याय

राष्ट्रोत्थान में शिक्षा का महत्त्व

5.1. शिक्षा पद का अभिप्राय और शिक्षा की अनिवार्यता।

5.2. शिक्षा के उद्देश्य ओर शिक्षा की पात्रता।

5.3. शिक्षा के क्षेत्र में गुरु शिष्य के राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य।

5.4. शिक्षा के विकास में राजा (शासन) के कर्त्तव्य।

5.1. शिक्षा पद का अभिप्राय और शिक्षा की अनिवार्यता :–

शिक्षा, पनपते हुए बच्चे पर समाज के द्वारा डाला जाने वाला सोच–विचार और उद्देश्य–पूर्ण प्रभाव है, जिससे वह शारीरिक दृष्टि से स्वच्छ, मानसिक दृष्टि से चुस्त, भावात्मक दृष्टि से स्थिर, सामाजिक दृष्टि से कार्यकुशल, संस्कार की दृष्टि से परिष्कृत, नैतिक दृष्टि से दृढ़ और आत्मिक दृष्टि से उन्नत बन सके। इस प्रकार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को स्वावलम्बी और निःस्वार्थ बनाती है।

वेद व अन्य शास्त्रों में 'शिक्षा' को 'विद्या' के नाम से भी अभिहित किया गया है। यहाँ हम 'शिक्षा' एवं 'विद्या' शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शा रहे हैं।

अमरकोश में शिक्षा शब्द का प्रयोग षड्–वेदांगों में से एक वेदांग के लिए प्रयुक्त हआ है उस समय 'शिक्षा' का प्रयोजन वेदों की ऋचाओं का शुद्ध उच्चारण सिखाना था।[1]

'शिक्षा' शब्द अभ्यासार्थक 'शिक्ष्' धातु और मर्षणार्थक (सहन करना) 'शक्' धातु से निष्पन्न होता है, अर्थात् अनुपलब्ध ज्ञान का अर्जन करके, सदसद् विवेक की सम्प्राप्ति के द्वारा जीवन में समायोजन की शक्ति सम्पादित कर आत्मा का परिष्कार करने का नाम ही शिक्षा है।[2]

कई शिक्षा–शास्त्री 'शिक्षा' शब्द का व्युत्पत्ति "शास्–शासने' धातु से करते हैं। 'शिष्यते यथा सा शिक्षा' अर्थात् जिसके द्वारा अनुशासन किया जाए तथा अनुशासन साधना की प्रक्रिया ही शिक्षा है।

---

1. शिक्षेत्यादि श्रुते रंगमोंकारप्रणवौ समौ।
   इतिहास पुरावृत्तमुयात्तायास्रयः स्वरा।।
   अमरकोश, प्रथमखण्ड, शब्दादिवर्ग, श्लोक–4
2. शिक्षा शास्त्र, बालकृष्ण, पृ. 1.

शिक्षा के लिए ज्ञान उपदेशादि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है। भारतीय दर्शनों में ज्ञान शब्द वही अर्थ रखता है, जो कि व्यापक अर्थों में 'शिक्षा' का होता है। आंग्ल भाषा में 'शिक्षा' शब्द के लिए 'Education' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'Education' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के तीन शब्दों से मानी गई है।

1. Educare-

इसका अर्थ है– आगे बढ़ाना, बाहर निकालना, विकसित करना।[1]

2. Educatum-

अर्थात् शिक्षित करना।[2]

3. Educere-

अर्थात् विकसित करना अथवा निकालना।[3]

अस्तु 'शिक्षा' व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने की प्रक्रिया है। वह भीतरी क्षमताओं व संभावनाओं 'Potenialities' को बाहर ही नहीं निकालती है अपितु अनुशासित कर वाणी व्यवहार और आचरण में उन्हें यथास्थान सजा देती है।

व्यवहार में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग संकुचित और व्यायक दो अर्थों में किया जाता है। संकुचित अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य शिक्षा–संस्थाओं में थोड़े वर्षों की होने वाली पढ़ाई अथवा प्रशिक्षण से है। शिक्षा का संकुचित अर्थ है औपचारिक शिक्षा (विद्यालय में होने वाली पढ़ाई–लिखाई) दर्शाता है। शिक्षा के इस अर्थ में शिक्षक का स्थान मुख्य होता है तथा बालक का गौण। संकुचित शिक्षा में बालक पुस्तकीय ज्ञान तो प्राप्त कर लेता है, परन्तु व्यावहारिक ज्ञान कम प्राप्त कर पाता है।[4]

---

1. 'The Act of Brunging up' (संवर्द्धन)
2. 'The Act of Teaching' (प्रशिक्षण)
3. 'The Act of Leading out' (प्रथ–प्रदर्शन करना)
4. बुनियादी शिक्षा–सिद्धान्त एवं मनोविज्ञान, शिव कुमार शर्मा, पृ. 39.

व्यापक अर्थ में मानव अपने जीवन में सर्वत्र कुछ न कुछ शिक्षा प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार शिक्षा केवल विद्यालय या कक्षा के कमरे तक ही सीमित नहीं होती, अपितु परिवार और समाज की विभिन्न संस्थाओं तथा समितियों आदि के माध्यम से भी मिलती है। शिक्षा से केवल अध्यापक नहीं बनते, बल्कि वह छोटे बड़े, स्त्री पुरुष किसी भी व्यक्ति और यहाँ तक कि प्रकृति से भी मिल सकती है। इस दृष्टि से बालक किसी विशेष व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त नहीं करता, बल्कि उसके चारों ओर के परिवेश में शिक्षा के सैंकड़ों साधन होते हैं।[1]

इस प्रकार संकुचित अर्थ में शिक्षा परिवर्तन–विरोधी तथा सीमित हैं। इस अर्थ में बालकों की रूचियों, क्षमताओं तथा योग्यताओं की प्रायः अवहेलना हो जाती है। व्यापक अर्थ में शिक्षा आवश्यकता से अधिक उदार बन जाती है। वस्तुतः शिक्षा शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में होता रहा है और व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में दोनों ही प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती है। विद्यालय का शिक्षा प्राप्त व्यक्ति पूर्ण शिक्षित तो नहीं होता, परन्तु एक ओर वह सामान्य अशिक्षित व्यक्ति से अधिक जानकर होता है तो दूसरी और उसमें शिक्षा को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने की योग्यता आ जाती है। अस्तु, मानव के लिए दोनों ही प्रकार की शिक्षा अनिवार्य हैं।[2]

वैदिक साहित्य में शिक्षा एक शास्त्र के रूप में :–

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष इन छः शास्त्रों को वेदार्थ जानने में सहायक माना जाता है और उन्हें वैदिक साहित्य में वेदांग की संज्ञा दी गई है।[3]

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त तथा तकनीक, अग्रवाल जे.सी. पृ. 10.
2. वही– पृ. 4.
3. (क) तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा।
   कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।। मुण्डकोपनिषद्– 1.1.5.
   (ख) शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च यः।
   ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु।।
   (ग) दयानन्द–लघु–ग्रन्थ–संग्रह, आर्योद्देश्यरत्नमाला, पृ. 167.

पाणिनीय शिक्षा में 'शिक्षा प्राणं तु वेदस्य' कहकर शिक्षा को वेद पुरुष की नासिका बताया गया है।[1] नासिका कहने का तात्पर्य प्राणशक्ति से शिक्षा का अपरिहार्य सम्बन्ध बताना है। प्राणशक्ति का प्रतीक नासिका है और प्राणशक्ति के सम्यक् योग से वर्णों का सही उच्चारण होता है। अतः नासिका का स्थान 'शिक्षा' वेदांग को प्रदान किया गया है। प्राणरहित देह की कल्पना जैसे असम्भव है वैसे ही शिक्षा के अभाव से वेदार्थ की कल्पना भी अधूरी है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा का विवेचन करते हुए उसके छः अंगों वर्ण, स्वर, मात्रा, बल साम और सन्तान का उल्लेख किया गया है। इन छः विषयों के समुचित्त मिलान से ही वेद–पाठ शुद्ध हो जाता है।[2]

इस प्रकार शिक्षा वेदांग श्रुति की व्याख्या के लिए अंगभूत रूप में विरचित हुआ और कालान्तर में आगम वादियों की रहस्य प्रधान वर्ण विचार पद्धति से प्रभावित होकर उसमें वर्णो के रूप, ऋषि और देवताओं की परिकल्पना हुई। शिक्षा वेदांग मात्र व्याकरणिक रूप–रचना की सूचना नहीं देता, वह शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वास्थ्य, लक्ष्य और सामाजिक उपादेयता पर प्रकाश डालता है। प्राणवायु के सन्तुलन और संयुजन के साथ वह दीर्घ जीवन प्रदान करने की कुंजी भी देता है। इससे उसकी अनिवार्य उपयोगिता सिद्ध होती है।

---

1. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ क्ल्पोऽथ पठ्यते।
   ज्योतिषामयनं चक्षुनिरुक्त श्रोतमुच्यते।।
   शिक्षा प्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
   तस्मान् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।
   पाणिनी शिक्षा– 41.12.
2. वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः।
   इत्युक्तः शिक्षाऽध्यायः।।
   तैत्तिरीयोपनिषद्–1.2.

शिक्षा की अनिवार्यता :–

महर्षि दयानन्द के अनुसार शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जिससे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा सच्चा पथ–प्रदर्शन होता है। इसे मनुष्य का तृतीय नेत्र भी कहा गया है, जो इसे समस्त तत्त्वों के मूल को समझाने की क्षमता तथा उचित व्यवहार करने में प्रवृत्त करता है। शिक्षा की अनिवार्यता के प्रबल पक्षधर महर्षि दयानन्द इस विषय में किंचिन्मात्र भी ढील देने को तैयार न थे। उनके विचारानुसार–

"वे माता–पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने अपने सन्तानों को विद्या की प्राप्ति नहीं कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में बगुला"[1] इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का मन्त्र–

यस्मिन्नश्वास ऋषभास उक्षणो वशामेषा अवसृष्टास आहुताः।
कीलालये सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये।।[2]

भी द्रष्टव्य है इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि पुनः लिखते हैं– "विद्वानों को चाहिए कि वे घोड़े, बैल आदि पशुओं के सुशिक्षित करके व्यवहार में उन्हें कार्य साधक बनावें और अन्तः करण से सोम के जिज्ञासु, अन्नरस का पान करने वाले मेधावी अग्नि के समान विद्या से प्रकाशमान पुरुष के लिए श्रेष्ठ बुद्धि को उत्पन्न करें। पशु भी सुशिक्षा पाये हुए उत्तम कार्य सिद्ध करते हैं, क्या फिर विद्या की शिक्षा से युक्त मनुष्य लोग सब उत्तम कार्य सिद्ध नहीं कर सकते अर्थात् अवश्य कर सकते हैं।[3] एक अन्य मन्त्र–

---

1. माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
   न शोभते सभामध्दे हंसमध्ये वको यथा।।
   सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समुल्लास, पृ. 36.
2. यजुर्वेद 20.78.
3. "पश्वोऽपि सुशिक्षितास्सन्त उत्तमानि कार्याणि कुर्वन्ति, किं पुनः विद्याशिक्षायुक्ताजनाः सर्वाण्युत्तमानि कार्याणि साद्धुं न शक्नुवन्ति?"
   दयानन्दभाष्य भावार्थ, यजुर्वेद– 20.78

अग्न आयुं षि पवस आ सुवीर्जमिषं च नः।
आरे वाधस्व दुच्छुनाम्।।[1]

भाष्य में वे लिखते हैं–

"हे विद्वान् पिता, दादा और परदादा, जो तू हमारी आयु के निमित्त अन्न आदि को पवित्र करता है, सो तू पराक्रम और इच्छा–सिद्धि को प्रदान कर"[2]

महर्षि इसी विषय पर बल देते हुए अग्रिम मन्त्र[3] के भावार्थ में लिखते हैं– "विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्रियों का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि जो पुत्र और पुत्रियों को ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से विद्वान् और विदुषी सुन्दर शीलयुक्त नित्य करें।"[4] भाष्य में शिक्षा की अनिवार्यता को स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

"यही माता–पिता और आचार्य का परम धर्म है कि सन्तानों को विद्या, सुशिक्षा की प्राप्ति कराना।"[5]

विद्या का कोश ही अक्षय कोरा है। इस कोश की विशेषता यह है कि इसे जितना अधिक व्यय करें, यह उतना ही अधिक बढ़ता जाता है। इसलिए महर्षि दयानन्द

---

1. यजुर्वेद– 1938.
2. पित्रादयोऽपत्येषु दीर्घायुः पराक्रम–शुभेच्छा धरयित्वा स्वसन्तानात् दुष्टानां सङ्गन्निवार्य श्रेष्ठनां सङ्गे प्रवर्त्य धार्मिकान् दीर्घायुषः कुर्वन्तु।।
   दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 19.38,
3. यजुर्वेद 19.39.
4. 'विदृषां विदुषीणं चेदमेव मुख्यंकृत्यमस्ति यत्–पुत्राः पुत्रयश्च।
   ब्रह्मचर्य सुशिक्षाभ्यां विद्वान्सः विदुष्यश्च सुशीला सततं सम्पादनीया''।।
   दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद 19.39.
5. "अयामेव माता–पितृ आचार्याणां परमो धर्मोऽस्ति यत् सन्तानेभ्यो विद्यासुशिक्षा प्राप्तिकारणम्।।
   दयानन्द भाष्य भावार्थ, यजुर्वेद, 12.45.

ने शिक्षा की अनिवार्यता के लिए माता, पिता, आचार्य, सम्बन्धी आदि को उनके शिक्षा प्रदान आदि परम कर्त्तव्य का बोध वेदमन्त्रों के आधार पर कराया है। जिससे भावी सन्तान सुखमय जीवन व्यतीत करके सामाजिक प्रगति में अपना अभूतपूर्व योगदान दे सके।

शिक्षा की वृद्धि व रक्षा का दायित्व राजा और प्रजा दोनों का है। महर्षि दयानन्द शिक्षा की अनिवार्यता मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे, वे इससे भी एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि जो माता–पिता अपनी सन्तानों को अध्ययन हेतु विद्यालय न भेजें वे दण्ड़ित किए जाने चाहिए। उन्हीं के शब्दों में निम्न उद्धारण द्रष्टव्य है–

"कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।

का अभिप्राय है कि इसमें राजनियम और जाति नियम होना चाहिए कि पाँचवे और आठवें वर्ष से आगे (कोई) अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेजे, जो न भेजें वे दण्डनीय हों।"[1]

शिक्षा की अनिवार्यता की पुष्टि में महर्षि दयानन्द लिखते हैं– "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् करना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके माता–पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की घर में न रहने पावें किन्तु आचार्य कुल में रहें।"[2]

शिक्षा की अनिवार्यता पर इसी प्रकार के दण्ड का विधान महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद के निम्न मन्त्र के भावार्थ में भी किया है–

---

1. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृ. 37.
2. (क) वही, पृ. 71.
   (ख) तुलनीय, स्वामी विवेकानन्द– "कोई भी राजनीति उस समय तक सफल नहीं होगी जब तक कि भारत की जनता एक बार फिर अच्छी प्रकार से शिक्षित न हो जाएगी।" भारत में शिक्षा, वेदालंकार प्रशान्त, पृ. 6.

उप न सूनवो गिरः शृण्वन्त्यमृतस्य ये।
समृलीका भवन्तु नः।।[1]

पितृजनों को राजनीति व अपने कुल में यह दृढ़ नियम करना चाहिए कि जितने हमारे सन्तान हैं, वे ब्रह्मचर्य से विद्याओं को समस्त ग्रहण करने के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम को करें जो इसका विनाश करें उसे राजा व कुलीन निरन्तर दण्ड देवें।"[2]

शिक्षा के लिए बालक–बालिकाओं को अनिवार्य रूप से आचार्यकुल अथवा पाठशालाओं में भेजना महर्षि दयानन्द की दृष्टि में केवल बांधनीय ही नहीं अपितु उसके लिए सबको बाध्य करना भी आवश्यक है। केवल उपदेश व प्रेरणा से यह नहीं कराया जा सकता। इसके लिए जाति नियम और राजनियम के प्रयोग का महर्षि ने प्रतिपादन किया है। इसी कारण महर्षि ने राजनियम (राजकीय कानून) के साथ–साथ जातिनियम (जनता का समर्थन) को भी अनिवार्य शिक्षा के लिए आवश्यक माना है।

5.2. शिक्षा के उद्देश्य और शिक्षा की पात्रता –

शिक्षा के उद्देश्य :–

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा के उद्देश्य को लेकर जो विचार प्रस्तुत किये हैं, उन्हें देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके सामने शिक्षा का उद्देश्य केवल अर्थ–प्राप्ति न था, अपितु उन्होंने धर्मार्थकाममोक्ष–रूप पुरुषार्थ–चतुष्ट्य की प्राप्ति को शिक्षा के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानकर सच्चे अर्थों में धार्मिक, सभ्य एवं सुशील हो सकता है–

---

1. ऋग्वेद 6.5.2.9.
2. "पितृभिः राजनीतौस्वकुले वाऽयं दृढ़ो नियमः कर्त्तव्यो यावन्त्यस्माकमपत्यानि स्युस्तावन्ति ब्रह्मचर्येण समस्तविद्याग्रहणाय ब्रह्मचर्यं कुर्युः, योऽस्य विच्छेदं कुर्यात्तं राजा कुलीनाश्च भृशं दण्डयेयुः।"

   दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद, 6.52.9.

मानव जीवन के प्रत्येक पक्ष तथा दैनिक जीवन की प्रत्येक क्रिया को सफल बनाने के लिए उद्देश्य का विशेष महत्त्व होता है। बिना उद्देश्य के हम जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो सकते। जब व्यक्ति को किसी उद्देश्य का स्पष्ट ज्ञान होता है तो उसके मन दृढ़ता तथा आत्मबल जागृत हो जाता है। इससे वह एकाग्र होकर अपने कार्य को पूरे उत्साह के साथ करने लगता है। शिक्षा के क्षेत्र में उद्देश्य हमें शिक्षण पद्धतियों के प्रयोग करने, साधनों का चयन करने, उचित पाठ्यक्रम की रचना करने तथा परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने में भी सहायता प्रदान करता है। अतः शिक्षण कार्य आरम्भ करने से पूर्व बालक तथा शिक्षक दोनों को शिक्षा के उद्देश्यों का स्पष्ट ज्ञान होना परम आवश्यक है।[1] अतः शिक्षा के उद्देश्य का जीवन के उद्देश्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। शिक्षा के उद्देश्यों का सम्बन्ध मनुष्य तथा समाज के वास्तविक जीवन से होता है।[2] महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में माता–पिता अपने अपने बच्चों को कैसी शिक्षा दें, यह निर्देश देते हुए शिक्षा का उद्देश्य निम्न शब्दों में व्यक्त किया है–

"बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा प्रदान करे, जिससे सन्तान सभ्य हों, और किसी अंग से कुचेष्टा न कर पावें।..... जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करें।.... जिससे सन्तान किसी धूर्त के बहकावे में न आवें।..... जिससे भूत, प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।"[3]

शिक्षा के द्वारा शारीरिक व आत्मिक बल की वृद्धि होती है तथा किसके साथ कैसा व्यवहार करना है, इसका ज्ञान होता है– यह भी महर्षि ने शिक्षा का लाभ बताया–

---

1. शिक्षा सिद्धान्त, एन.आर. स्वरूप सक्सेना, पृ. 13.
2. विकासशील भारत में शिक्षा, जे.सी अग्रवाल, पृ. 89.
3. सत्यार्थप्रकाश, (द्वितीय समुल्लास), पृ. 29–30.

"इसलिए वे ही धन्यवार्ह और कृत्कृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें, जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्टमित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से बर्ते।"[1]

श्रेष्ठ माता–पिता किस प्रकार अपने बच्चों को समझाते हैं, इसे प्रदर्शित करते हुए महर्षि ने शिक्षा के उद्देश्य को निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है–

"सुनो लड़को,..... तुम सुशिक्षाग्रहणपूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते न भार होता और जितना दान करो उतना ही अधिक बढ़ता जाता है।[2] इसके होने से जहाँ रहोगे, वहाँ सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे। .....क्या तुम नहीं देखते हो कि जिन मनुष्यों को राज्य–धन प्राप्त भी है, परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के बिना नष्ट–भ्रष्ट हो जाते और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।"[3]

अन्यत्र भी विद्या का उद्देश्य बताते हुए महर्षि ने लिखा है– "विद्या का फल यही है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है; जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा, तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता है, और साहूकारी को अच्छी

---

1. सत्यार्थप्रकाश (तृतीय समुल्लास) पृ. 70–71.
2. तुलनीय :–

   न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भार कारि।
   व्यये कृते, वर्धते एव नित्यं, विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।।
3. दयानन्द,– लघु–ग्रन्थ–संग्रह, व्यवहारभानु, पृ. 513–514.

जान के भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़ के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करके हारा है।"[1]

शिक्षा का एक उद्देश्य बेराजगारी को दूर करना भी है। बेरोजगारी के प्रश्न को हल करने के लिए महर्षि कला–कौशल (शिल्प) की शिक्षा का प्रसार आवश्यक समझते थे। इस विषय पर सत्यार्थप्रकाश में आर्ष पाठविधि के प्रसंग में वे लिखते हैं–

"अथर्ववेद कि जिसको 'शिल्प विद्या' कहते हैं उसका पदार्थ गुण–विज्ञान, क्रिया–कौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है। उस विद्या का सीख के दो वर्ष में ज्योतिष शास्त्र सूर्य–सिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया मन्त्रकला आदि को सीखें।"[2]

महर्षि दयानन्द इस प्रकार स्वरोजगार का अवसर प्रदान करके बेकारी की समस्या को समाप्त करने पर बल देते हैं।

विद्या के द्वारा अविद्या का नाश होकर विज्ञान रूप प्रकाश की उत्पत्ति होती है, ऐसा ऋग्वेद के एक मन्त्र में वर्णित है–

यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन्नह्यन्ये अशक्नुवन्।।[3]

महर्षि मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं– "हे मनुष्यों! जैसे मेघ सूर्य को आवृत्त कर अन्धकार को उत्पन्न करता है, वैसे ही अविद्या आत्मा का आवरण करके अज्ञान को

---

1. दयानन्द–लघु–ग्रन्थ–संग्रह, व्यवहारभानु, पृ. 520.
2. सत्यार्थप्रकाश (तृतीय समुल्लास), पृ.65.
3. ऋग्वेद– 5.40.9.

उत्पन्न करती है। जैसे सूर्य मेघ का नाश और अन्धकार का निवारण करके प्रकाश को करता है, वैसे ही प्राप्त हुई– विद्या–अविद्या का नाश करके विज्ञान के प्रकाश को उत्पन्न करती है। इस विवेचन को विद्वान् जन जानते हैं अन्य नहीं।"[1]

अतः महर्षि दयानन्द लिखते हैं– "क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता? और इसके बिना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है? जिस लिए सब मनुष्यों को सुशिक्षा युक्त होना अवश्य है।"[2]

भारतीय संस्कृति में इस बात पर बल दिया गया है कि पढ़े हुए ज्ञान का अर्थ समझकर तदनुसार उसका जीवन में उपयोग करना चाहिए। वास्तविक विद्या व्यक्ति में स्वतन्त्र चिन्तन भक्ति उत्पन्न करती है– 'सा विद्या या विमुक्तये' का अर्थ यही है कि व्यक्ति स्वतन्त्र निर्णय लेने में सक्षम हो सके।

इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य बालक के शरीर, मन और बुद्धि के उचित विकास के प्रकाश में सृष्टि को समझकर उसमें अपनी भूमिका निभाने का आत्मविश्वास, अपनी आजीविका के लिए परोपजीवी बनने की अपेक्षा स्वयं आत्मनिर्भर अर्थात् अपने पैरों पर खड़े होने का साहस, अन्याय, अत्याचार तथा शोषणरहित समतामूलक प्रबद्ध– समाज का निर्माण, किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष से सर्वथा दूर रहकर सर्वभूतहित की कामना, मानवता, मानवीयमूल्य और मानवीय संवेदना का आदर सम्मान तथा अपनी राष्ट्रीयता और अस्मिता का उचित अभिमान तथा उपयुक्त गौरभ अनुभव करना है।

---

1. "हे मनुष्या यथा मेघः सूर्यमावृत्याऽन्धकारं जनयति तथैवाऽविद्यात्मानमावृत्याऽज्ञानं जनयति। यथा सूर्यो मेघं हत्वाऽन्धकारं निवार्य प्रकाशमाविष्करोति तथैव प्राप्ता विद्याऽविद्यां विनाश्य विज्ञानप्रकाशं जनयति। एतद्विवेचनं विद्वांसो जानन्ति नेतर इति।।

   दयानन्द भाष्य भावार्थ, ऋग्वेद 5.40.9.

2. दयानन्द–लघु–ग्रन्थ–संग्रह, व्यवहारभानु, पृ. 17.

शिक्षा की पात्रता :–

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में यद्यपि सभी मनुष्य शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं, जन्म के आधार पर या अन्य किसी कारण से किसी वर्ग विशेष को विद्या पढ़ने के अधिकार से वंचित नहीं किया गया है, तथापि योग्यता आदि की दृष्टि से पात्रापात्र का विचार आवश्यक है। इस विषय पर महर्षि ने कि शिक्षा के पात्र कौन हैं, कैसे छात्रों को विद्या देनी चाहिए, कैसों को नहीं, वेदभाष्य के अनेक स्थलों में अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। जो आलसी, प्रमादी, निर्बुद्धि, मिथ्याचारी, मूढ हों वे विद्या–दान के पात्र नहीं हैं, इसके विपरीत जो सुशील, शुद्धबुद्धि, उद्यमी, परिश्रमी, विद्याभ्यास–प्रिय हों वे विद्यादान के सच्चे पात्र हैं।[1]

महर्षि वेदभाष्य में विद्याग्रहण के अनधिकारियों की चर्चा करते हुए लिखते हैं– "विद्वान् परीक्षयां यानलसान् प्रमादिनों निर्बुद्धीन् पश्येत् तान्न परीक्षयेनाप्यध्यापयेत्।" विद्वान् जन परीक्षा में जिन को आलसी, प्रमादी और निर्बुद्धि देखें उनकी न परीक्षा करें, न उनको पढ़ावें।"[2] योऽजितेन्द्रियों दुष्टाचारी निन्दको भवेत् स विद्या ग्रहणेऽधिकारी न भवतीति वेद्यम्।" जो लम्पट, दुराचारी, निन्दक हों वह विद्याग्रहण में अधिकारी नहीं होते यह जानो।[3] जिस कारण आप्त विद्वान् जन मिथ्याचारी, मूढ विद्यार्थी जनों को नहीं पढ़ाते हैं, इससे स्त्री–पुरुष मिथ्या आचार और व्यभिचारादि दोषों को त्यागें।[4]

---

1. यास्क मुनि ने निरुक्त–विद्या के अधिकारी शिष्यों का वर्णन करते हुए बताया है कि जो निन्दक, कुटिल और लम्पट विद्यार्थी हों, उन्हें विद्या का उपदेश न किया जाये। जो गुरुओं का माता–पिता के समान आदर करने वाले, पवित्र, अप्रमादी, मेधावी, जितेन्द्रिय हों, वे ही विद्या–प्राप्त करने के अधिकारी हैं।

   द्रष्टव्य, निरुक्त, 2.4.

2. ऋग्वेद, 7.22.5, दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
3. यजुर्वेद, 27.44. दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
4. ऋग्वेद, 1.179.3.दयानन्द भाष्य, भावार्थ।

महर्षि ने कैसे छात्रों को विद्या देनी चाहिए, इस विषय में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं –

"ये चोद्यमिनः सुबुद्धयो विद्याभ्यासे तत्परा बोधायुक्ताः स्युस्तान् सुपरीक्ष्य प्रोत्साहयेत्। जो उद्यमी अर्थात् परिश्रमी, उत्तम–बुद्धि, विद्याभ्यास में तत्पर, बोधयुक्त हो उनकी उत्तम परीक्षा कर उन्हें अच्छा उत्साह दें।[1] ये च धीमन्तः स्युस्ते पाठनीयाः। जो बुद्धिमान हों वे पढ़ाने योग्य होते हैं।[2] यः पराक्रमः वीर्यं च न हन्याच्छरीरात्मनोर्वर्धकः सन् रक्षकः स्यादाप्तास्तस्मै विद्यां दद्युः। जो पराक्रम और बल को नष्ट न करे, शरीर और आत्मा की उन्नति करता हुआ रक्षक हो, उसके लिये आप्तजन विद्या देवें।"[3]

यजुर्वेद के निम्न मन्त्र का ऋषिभाष्य भी इस विषय में प्रकाश डालता है–

अवोचाम कवये मेध्याय।
वचो वन्दारू वृषभाय वृष्णे।।[4]

वे लिखते हैं कि विद्वानों को चाहिए कि सुशील, शुद्धबुद्धि विद्यार्थी के लिये परम प्रयत्न से विद्या देवें कि जिससे वह विद्या पढ़ के सूर्य के प्रकाश में घटपटादि को देखते हुए के समान सबको यथावत् जान सकें।

इस विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि जो उपरिलिखित किन्हीं कारणों से शिक्षा का पात्र नहीं है, तो क्या उसे अशिक्षित ही रहने दिया जाये? वह तो फिर शिक्षा से वंचित होकर सम्पूर्ण जीवन मूर्ख रहकर दुःख ही उठाता रहेगा। महर्षि ने ऋग्वेद के एक मन्त्र के भाष्य में इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि

---

1. ऋग्वेद, 7.22.5., दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
2. वही, 7.33.6, भावार्थ।
3. यजुर्वेद, 27.44,दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
4. वही, 15.25, भावार्थ।

ऐसे मनुष्यों को विद्वान् जन साधारण उपदेश के द्वारा अर्थात् उनकी योग्यतानुसार उपदेश करके पहले शिक्षा के योग्य या शिक्षा का पात्र बनावें। यदि वे शिक्षा के पात्र बन जायें, तब उन्हें विद्या ग्रहण करावें। महर्षि लिखते हैं– "तानेव विद्वांसोऽतिथयो विशिष्टमुपदिशन्तु ये पवित्रात्मानो विद्या–प्रियाः सत्क्रियां जिज्ञासवो भवेयुर्ये चातो विपरीतान्तानधिकारयोग्यतामुपदेशेन प्राप्यऽधिकारिणः सम्पादयेयु.। उन पुरुषों को ही विद्वान् अतिथि जन विशेष उपदेश देवें कि जो पवित्रात्मा विद्या में प्रीति करने और उत्तम क्रियाओं के जानने की इच्छा करने वाले होवें और जो इन बातों से विपरीत अर्थात् रहित हों उनको अधिकार की योग्यता अर्थात् विशेष उपदेश के समझने का सामर्थ्य साधारण उपदेश के द्वारा प्राप्त कराके अधिकारी करें।"[1]

उपरोक्त चिन्तन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि दयानन्द की दृष्टि में सभी मनुष्य शिक्षा प्राप्ति के अधिकारी हैं। योग्यता की दृष्टि से पात्रापात्र का विचार आवश्यक है। जो मन्दबुद्धि, मिथ्याचारी और आलसी हों वे विद्या दानके पात्र नहीं हैं इसके विपरीत जो शुद्धबुद्धि, उद्यमी और परिश्रमी हों वे विद्या दान के सच्चे पात्र हैं।

5.3. शिक्षा के क्षेत्र में गुरु शिष्य के राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य :–

मानव–समाज के अभ्युत्थान में शिक्षा का महत्त्व निर्विवाद है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में समुचित विकास हेतु शिक्षा की उपयोगिता सदा स्वीकृत रही है। महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में यत्र–तत्र शिक्षा के सभी अंगों पर गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया है। वे कहते हैं– "सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों का धारण कराना माता पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। अन्य रत्नों से युक्त आभूषणों को धारण करने से मनुष्य की आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकती।"[2]

---

1. ऋग्वेद, 5.1.12., दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
2. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ. 36.

राष्ट्रीय जीवन एवं मानव समाज के अभ्युदय में जितना क्रियात्मक एवं स्पष्ट योगदान शिक्षक का है, उतना अन्य किसी का नहीं। शिष्यों के लिए महर्षि का निर्देश है कि वे जिज्ञासा, धार्मिकता, सुसेवा, पवित्रता, निष्कपटता, पुरुषार्थ, बुद्धिमता, नम्रता, जितेन्द्रियता, शोभनस्वभाव आदि गुणों से युक्त होने पर ही शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगें। वेदभाष्य के अनेक स्थलों में गुरु–शिष्य के कर्त्तव्यों का महर्षि ने उल्लेख किया है।

राष्ट्र में शिक्षा का व्यापक प्रचार–प्रसार तभी हो सकता है, जब इस क्षेत्र में आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए गुरु और शिष्य दोनों प्रयत्नशील रहें। वे पढ़ने वाले विद्याग्रहण करने में नित्य मन लगावें और पढ़ाने वाले भी विद्या और अच्छी शिक्षा देने में नित्य प्रयत्न करें। आज का बालक कल का नेता है। राष्ट्र युवाओं पर ही आशा लगाए रहता है। अतः गुरु और शिष्य दोनों की राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी हैं।

गुरु के कर्त्तव्य–

महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य करते हुए अनेक मन्त्रों के व्याख्यानों में गुरु के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है। शिक्षक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी पूर्ण शक्ति से छात्र को विद्वान् और सच्चरित्र बनाए। 'उपनयन' का अर्थ है गुरु के समीप ले जाना और पूर्ण विद्वान् बनने तक पास रखना। गुरु के आश्रम में रहते हुए छात्र का नाम अन्तेवासी है, मानो वह गुरु के अन्दर रहता है। वह गुरु का पुत्र है– "अंगादंगात्संभवसि हृदयादधि जायसे आत्मा वै पुत्र नामासि"[1] मानो वह उसी केअंग–अंग से और हृदय से उत्पन्न हुआ है अभिप्राय यह है कि शिक्षक शिष्यों को अपनी सन्तान के समान समझें।

---

1. भारत में शिक्षा– अशिक्षा, प्रशान्त वेदालंकार, पृ. 17.

शिक्षक छात्रों को गर्भ के समान धारण करें, अर्थात् जैसे माता गर्भस्थ शिशु का पोषण तथा संवर्धन करती है तथा उसकी रक्षा के लिए अहर्निश चिन्तित रहती है, वैसा ही आचरण शिक्षक गण किया करें। यजुर्वेद के मन्त्र में यही निर्देश किया गया है कि–

आदत्त पितरो गर्भ कुमारं पुष्करस्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्।।[1]

अर्थात्– "ईश्वर आज्ञा देता कि विद्वान् और विदुषी देवियाँ क्रमशः विद्या के अभिलाषी कुमारों तथा विद्या की अभलाषिणी कुमारियों को विद्या–दान के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे गर्भ में शरीर क्रम से बढ़ता है वैसे ही उत्तम शिक्षा से इन कुमार और कुमारियों को सद्विद्या में बढ़ावें और इनका पालन भी करें, जिससे विद्या के द्वारा धार्मिक और पुरुषार्थी होकर सदा सुखी रहें, इसका सदा अनुष्ठान करें।"[2]

एक अन्य मन्त्र–

"ओमानमापो मानषीरमृक्तं धाततोकाय तनयाय श योः।
यूयं हिष्ठा भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्रीः।।[3]

के भाष्य में भी महर्षि दयानन्द शिक्षकों को निर्देश देते हैं :– हे अध्यापक और उपदेशको! तुम अपवित्र जन को सत्यग्रहण कराकर शुद्ध करो तथा सब जगत् की रक्षा करने के निमित्त अविद्यारूपी रोग के निवारण करने वाले होते हुए सबको माता के तुल्य पालो।"[4]

---

1. यजुर्वेद 2.33.
2. वही– दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
3. ऋग्वेद–6.50.7.
4. हे अध्यापकोपदेशकाः यूयमशुद्धं जनं सत्यं ग्राहयित्वा शुद्धं सम्पादयत, सर्वस्य जगतो रक्षणेऽविद्यारोगनिवारकाः सन्तः मातृवत् पालयत।

   ऋग्वेद– 6.50.7, दयानन्द भाष्य भावार्थ।

महर्षि के विचार से 'शिक्षक' का कर्त्तव्य केवल अक्षर ज्ञान तक ही सीमित नही है। शरीर, आत्मा, मन आदि की पवित्रता तथा पुष्टी का भार भी 'शिक्षक' के ऊपर है। शिक्षक के कर्त्तव्य की दृष्टि से उन्होंने अनेक मन्त्रों के भाष्य में इस बात का उल्लेख किया है। यजुर्वेद भाष्य में वे लिखते हैं– "गुरु और गुरुपत्नी को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपांगों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की संतुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे–अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें।"[1]

महर्षि दयानन्द के विचार में विषयासक्ति आदि दुर्गुणों को दूर कर जितेन्द्रियत्वादि सद्गुणों की प्राप्ति कराना भी शिक्षकों का परम कर्त्तव्य है। ऋग्वेद मन्त्र–

अभिन्नक्षन्तो अभि ते तमानशुर्निधिं पणीनां परम गुहा हितम्।
ते विद्वांसः प्रतिनक्ष्यानृता पुनर्यत आयन्तदुदीयुराविशम्।।[2]

के भाष्य में छात्रों को पापाचरण से पृथक् कर धर्म, सत्य, विद्या आदि की प्राप्ति के लिए शिक्षकों को प्रेरित करते हुए महर्षि लिखते हैं– "जो यथार्थ विज्ञान को प्राप्त कर अधर्माचरण से पृथक् कर फिर धर्म, विद्या, शरीर और आत्मा की पुष्टि में प्रवेश कराते वे अत्यन्त आनन्द को पाकर औरों को आनन्दित करने में समर्थ होते हैं।"[3] इसी सन्दर्भ

---

1. वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्तेशुन्धामि
श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि।
पायुं ते शुन्धामि चरित्रँस्ते शुन्धामि।।
यजुर्वेद –6.14, दयानन्द भाष्य, भावार्थ
2. ऋग्वेद 2.24.6.
3. 'ये यथार्थ विज्ञानं प्राप्याऽधर्म चरणात् पृथग वर्तित्वाऽन्यान् पापाचरणात् पृथककृत्य पृनः धर्मविद्याशरीरा–त्सयुष्टिषु प्रवेशयन्ति तेऽत्यन्तमानन्दं प्राप्याऽन्यानानन्दयितुं शक्नुवन्ति।
ऋग्वेद 2.24.6 दयानन्दभाष्य भावार्थ।

में ऋग्वेद के मन्त्र–

तिग्मं चिदेम महि वर्पो अस्य भयसदश्वो न यमसान आसा।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं महावन् रन्धयानः।।[1]

के भाष्य में महर्षि ने शिक्षकों के कर्त्तव्य चतुष्ट्य का प्रतिपादन किया है, वे लिखते हैं–

"हे विद्वानों, जैसे उत्तम प्रकार से शिक्षित घोड़ा मनुष्य को मार्ग में पहुँचता है, वैसे ही धर्म मार्ग में हम लोगों को पहुँचाइये और बढ़ई परशु से काष्ठ को काटता है, वैसे हम लोगों के दोषों को काटिये और जैसे तालु से उत्तम आर्द्र रस जिह्वा को प्राप्त होता है वैसे विद्या के रस को कराइये तथा जैसे अग्नि काष्ठों को जलाता है वैसे ही हमारे दुर्व्यसनों को जलाइये।"[2] महर्षि ने ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र के व्याख्यान में नास्तिकत्व निवारण भी शिक्षकों का कर्त्तव्य माना है–

"जैसे म्लेच्छ जनों में गौओं की और नास्तिक पुरुषों में धर्म आदि गुणों की वृद्धि नहीं होती वैसे ही विद्वानों में ईश्वर को नहीं मानने वाले प्रबल होवे, इससे विद्वान् अध्यायकों को चाहिए कि मनुष्यों में नास्तिकत्व का सर्वथा निवारण करें।"[3] यजुर्वेद के अन्य मन्त्र–

---

1. ऋग्वेद– 6.3.4.
2. 'हे विद्वन् यथा सुशिक्षितोऽश्वो जनं मार्गं नयति तथा धर्मपथमस्मान्नय। यथा तक्षा परशुना काष्टं छिनत्ति तथास्माकं दोषञ्छिन्धि। यथा तालुज आर्द्रो रसो जिह्वां प्राप्नोति तथा विद्या रसं प्रापय। यथाग्निः काष्ठानि दहति तथैवास्माकं दुर्व्यसनानि दह।।'

   ऋग्वेद 6.3.4. दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
3. 'यदा म्लेच्छेषु गावो न वर्द्धन्ते नास्तिकेषु धर्मादयोगुणाश्च, तथैव विद्वत्स्वनीश्वर वादिनः प्रबला न जायन्ते, तस्माद् विद्वद्भिर्मनुष्येषु नास्तिकत्वं सर्वथा निवारणीयम्।'

   ऋग्वेद– 3.53.14. दयानन्द भाष्य, भावार्थ।

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीय आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर।।[1]

के व्याख्यान में वे लिखते हैं– "जैसे ऋत्विज् लोग घृत को शोधकर कर्छी से अग्नि में होमकर और वायु तथा वर्षा जल को रोग नाशक करके सबको सुखी करते हैं, वैसे ही अध्यापक लोगों को चाहिए कि विद्यार्थियों के मन अच्छी शिक्षा से शोधकर उनको विद्यादान देके आत्माओं को पवित्र कर सबको सुखी करें।"[2]

शिक्षकों के कर्त्तव्य निर्दिष्ट करते हुए महर्षि सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं– "अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभ गुणयुक्त शरीर और आत्मा का पूर्ण (बल) बढ़ाके समग्र वेदादि शास्त्रों में विद्वान् हों। यदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने में और विद्या पढ़ने में चेष्टा किया करें।"[3]

व्यवहारभानु में इसी विषय को लेकर वे लिखते हैं– "अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रखें कि जिस–जिस प्रकार से संसार में विद्या (और) धर्माचरण की बढ़ती (हो वैसा करें) और (सतर्क रहें कि) मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न हो जायें कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त गिना जाऊँ। ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना पड़े। धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख

---

1. यजुर्वेद 15.43.
2. 'यथर्त्विजा घृतं संशोध्यदर्व्याऽग्नौ हुत्वा वायुवृष्टि जले रोगनाशके कृत्वा सर्वान् सुखयन्ति तथैवाध्यापका विद्यार्थिमनोसि सुशिक्षया संशोध्येतत्र विद्या हुत्वाऽऽमनः पवित्रीकृत्य सर्वान् पापिनः सुखयेयुः।। यजुर्वेद– 15.43. दयानन्दभाष्य भावार्थ।
3. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 103.

से सुख और दुःख से दुःख अन्य मनुष्यों को जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायें।"[1]

इस प्रकार धर्म, विद्या और सदाचार आदि के जो श्लोक अथवा 'निरुक्त' 'अष्टाध्यायी' के सूत्र या वेद मन्त्र आदि माता–पिता ने कण्ठस्थ कराए हों, शिक्षक भी पुनः इनका अर्थ विद्यार्थियों को कण्ठस्थ करावे। जिस प्रकार आरोग्य विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार का भोजन व व्यवहार आचार्य स्वयं करे और विद्यार्थियों को भी करावे। इस लिए आर्य मर्यादा के पोषक महर्षि दयानन्द ने शिक्षकों में पाये जाने वाले सुचरितों का ही अनुकरण करने का उपदेश दिया है जिससे राष्ट्र में जागृति आये। शिष्य को गर्भ के समान धारण करना, शरीर, आत्मा, मन आदि का पवित्रीकरण, दुर्व्यसनों का निवारण, सद्गुणों का आधान, विद्या दान आदि शिष्य का सर्वांगीण विकास करना शिक्षक के प्रमुख कर्त्तव्य हैं।

शिष्य के कर्त्तव्य :–

महर्षि दयानन्द ने जहाँ शिक्षक के कर्त्तव्यों के विषय में पर्याप्त विचार किया है, वहीं शिष्यों के विषय में भी उन्होंने यथा प्रसंग अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। कर्त्तव्य पालन एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण गुण है। उसके बिना न तो वैयक्तिक जीवन में सफलता मिल सकती है और न ही सार्वजनिक जीवन में। इसलिए इसकी जितनी अधिक आवश्यकता व्यक्तिगत जीवन में है उतनी ही सार्वजनिक जीवन में भी। कर्त्तव्य पालन अपने लिए तथा दूसरों के लिए सुखदायी है और सफलता के मार्ग का महत्त्वपूर्ण सम्बल है। ऋग्वेद के मन्त्र–

विश्वे देवा ऋतावृध ऋतुभिर्ध्वनश्रुतः।
जषन्तां युज्यं पयः।।[2]

---

1. दयानन्द लघु–ग्रन्थ–संग्रह, व्यवहारभानु, पृ. 178.
2. ऋग्वेद 6.52.10.

के भाष्य में शिष्यों के कर्त्तव्य दर्शाते हुए महर्षि लिखते हैं– "जो अध्ययन करने और परीक्षा करेने (अर्थात् अपनी परीक्षा करने) को चाहें वे मद करने वाले, कुत्सित बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थों को छोड़ के दुग्ध आदि बुद्धि बढ़ाने वाले उत्तम पदार्थों को सेवे।"[1] अन्य मन्त्र–

आदित्यै रास्नास्यदितिष्टे बिलं गृभ्णातु।
कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये।
पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रययानिति।।[2]

मन्त्र के भावार्थ में पुनः लिखते हैं– "लड़के और लड़कियाँ आहार विहार भी अच्छे नियम से सेवें। कभी विषय की कथा न सुनें। मद्य, मांस, आलस्य और अतिनिन्द्रा को त्याग के पढ़ाने वाले की सेवा और उनके अनुकूल वर्त्तके अच्छे नियमों को धारण करें।"[3]

व्यवहारभानु में भी शिष्य के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हुए महर्षि लिखते हैं– 'मिथ्या को छोड़ के सत्य बोलें, सरल रहें, अभिमान न करें, आज्ञा पालन करें, स्तुति न करें, निन्दा न करें, नीचे आसन पर बैठें, ऊँचे न बैठें, शान्त रहें, चपलता न करें, आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहे, क्रोध कभी न करें, जब कुछ वे पूछें तो हाथ जोड़के नम्र होकर उत्तर देवें, घमण्ड से न बोलें, जब वे शिक्षा करें चित्त देकर सुने, ठटठे में न

---

1. येऽध्येतुम् परीक्षयितुं चेच्छे युस्ते मादक कुत्सित बुद्धिनाशकानि।
द्रव्याणि त्यक्त्वा पय आदीनि बुद्धिवद्धकानि सेवेरन्।
ऋग्वेद– 6.52.10. दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
2. यजुर्वेद 11.59.
3. कुमाराः कुमार्यश्च आहारनिहारानपि सुनियमेन सेवयेयुः न कदाद्विषय कथां शृंणुयुः।
मद्यमांसालस्यातिनिन्द्रां विद्याध्यापक सेवानुकूलताभ्यां वर्तित्वा सुव्रतानि धरेयुः।।
यजुर्वेद 11.59, दयानन्द भाष्य भावार्थ।

उड़ावें। शरीर और वस्त्र शुद्ध रखें, मैले कभी न रक्खें। जो कुछ प्रतिज्ञा करें उसको पूरी करें। जितेन्द्रिय होवें, लम्पट व्यभिचार कभी न करें, उत्तमों का सदा मान करें, अपमान कभी न करे, उपकार मानके कृतज्ञ होंवे, किसी के अनूपकारी होकर कृतघ्न न होवें। पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों। जिस–जिस कर्म से विद्या प्राप्ति हो उस–उसको करते जायें। जो–जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय शोक आदि विद्याविरोधी हों उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें। बुरे कामों पर क्रोध, विद्या ग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायें।"[1]

शिष्य के कर्त्तव्यों पर विचार करते हुए महर्षि इसी ग्रन्थ के अन्य प्रकरण में पुनः लिखते हैं– "विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाये, वैसे कर्म करें, जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें। रात–दिन विद्या ही के विचार में लगदः एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढ़ते–पढ़ाते जावें। जहाँ विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो, वहाँ कभी खड़े भी न रहें। जहाँ–जहाँ विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो, वहाँ से अलग कभी न रहें। भोजन–छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्य हानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करने हारे नशा के पदार्थ हैं, उनको ग्रहण कभी न करें। किन्तु जो–जो ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करने हारे पदार्थ हो, उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्य प्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्यधर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों, उनको छोड़कर पूर्ण विद्या प्राप्त करें।"[2]

---

1. दयानन्द–लघु–ग्रन्थ–संग्रह, व्यवहारभानु, पृ. 176–177.
2. वही पृ. 178–179.

अतः शिष्य को धर्मपरायण गुरु के प्रति कृतज्ञ, गुरुजनों की यथोचित सेवा करने वाला, मादक–कुत्सित– बुद्धिनाशक पदार्थों का सेवन न कर दुग्धादि सात्विक भोजन का ग्रहण करने वाला, नियम पालक, स्वच्छ, जितेन्द्र, पुरुषार्थी, परोपकारी, शुभगुणानुरागी, दुर्गुणपरिहर्त्ता, ईश्वराराधक एवं सत्यनिष्ठ होना चाहिए।

5.4. शिक्षा के विकास में राजा (शासन) के कर्त्तव्य :–

महर्षि दयानन्द के अनुसार राष्ट्र में शिक्षा का प्रचार–प्रसार तभी हो सकता है, जब शिक्षा के क्षेत्र में आने वाली कठिनाइयों का समाधान करने के लिए 'राजा' भी प्रयत्नशील रहे। महर्षि की दृष्टि में 'सभाध्यक्ष' या 'सभापति' भी अन्य सभासदों की भांति राजसभा का सदस्य है किन्तु योग्यता आदि के आधार पर साभापति या राजा बना दिया जाता है।[1] जहाँ कहीं भी महर्षि राजा के विषय में चर्चा करते हैं, वहा वंशानुक्रम से प्राप्त, अनिर्वाचित एवं राजतन्त्र के प्रतीक राजा ग्रहण न कर, योग्यता के आधार पर सभा के सदस्यों में से ही सभापति के रूप में निर्वाचित व्यक्ति को राजा समझना चाहिए।[2] राजा के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत सन्दर्भ–

> अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव।[3]

का अर्थ करते हुए महर्षि लिखते हैं– "जो सब देवो विद्वानों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है, तथा अत्यन्त सहन स्वभाव और सबसे उत्तम हैं, वही

---

1. "वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्य गुण सम्पन्नः सकल विद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु।।"

   ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्मविषय, दयानन्द, पृ. 234.

2. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 127.130.

3. ऐतरेय ब्राह्मण 8.3.12.

हमको सब दुःखों से पार उतार के सब सुखों को प्राप्त कराने वाला है। उसी श्रेष्ठतम पुरुष को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिए मानते हैं, तथा उसे ही सब ऐश्वर्यों के प्रापक होने से इन्द्र नाम से कहते हैं।"[1]

इस प्रश्न के उत्तर में कि 'राजा किसको कहते हैं? महर्षि दयानन्द निर्देश देते हैं– "जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धर्म आदि गुणों से युक्त होकर, अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर अपनी प्रजा को कराकर आनन्दित रहता और सबको सुख से युक्त करता है वह राजा कहाता है।[2] महर्षि दयानन्द राजा के गुणों के विषय में वर्णन करते हुए वेदमन्त्रों का प्रमाण देते हुए लिखते हैं–

"इन्द्रोजयाति न पराजयता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह।।[3]

अर्थात् हे मनुष्यों, जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (जयाति) जीत सके, (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयतै) प्रकाशमान हो, (चर्कृत्यः) सभापति होने के अत्यन्त योग्य, (ईड्यः) प्रशंसनीय गुण–कर्म स्वभाव युक्त (वन्द्यः) सत्करणीय (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य (नमस्यः) सबका माननीय (भव) होवे, उसी को सभापति राजा कहें। इसी भांति–

---

1. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका,राजप्रजाधर्म विषय, पृ. 241–242.
2. दयानन्द--लघुग्रन्थ–संग्रह, व्यवहारभानु, पृ. 198.
3. अथर्ववेद–6.98.1.

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षश्राय।
महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय।।[1]

इस मन्त्र में महर्षि लिखते हैं– "हे (देवाः) विद्वानों राज प्रजाजनों तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्ति राज्य, (महत ज्यैष्ठ्याय) सबसे बड़े होने (महते जानराज्याय) बड़े–बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने और (इन्द्रिस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्य युक्त राज्य और धन के पालने के लिए (असमत्नं सुवध्वम्) सम्मति करते सर्वत्र पक्षपात रहित, पूर्णविद्याविनययुक्त, सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मान के सब भूगोल को शत्रु–रहित करो।"[2]

महर्षि दयानन्द यजुर्वेद (8.37 मन्त्र के) भाष्य में चक्रवर्ती और माण्डलिक भेद से दो प्रकार के राजाओं की चर्चा करते हैं–

"प्रजाया द्वौ समभौ राजानौ भवितुं योग्यौ एकश्चक्रवर्ती द्वितीयो माण्डलिकश्य। एतौश्रेष्ठन्यायविनय।।देभ्यां प्रजाः संरक्ष्य पुनस्ताभ्यः करं संगृहणीयाताम्। सर्वस्मिन् व्यवहारे विद्यावृद्धिं सत्यवचनं चाचरेताम्। तौ एवं धर्मार्थकामैः प्रजाः संतोष्य स्वयं संतुष्टौ स्याताम। आपात्काले राजा प्रजां प्रजा च राजानं संरक्ष्य परस्पर मानन्देताम्।" अर्थात् प्रजा के बीच अपनी–अपनी सभाओं सहित राजा होने के योग्य दो होते हैं। एक चक्रवर्ती अर्थात् एक चक्र राज करने वाला और दूसरा माण्डलिक कि जो मण्डल का ईश्वर हो। ये दोनों प्रकार के राजाजन उत्तम–उत्तम न्याय, नम्रता, सुशीलता और वीरतादि गुणों से प्रजा की रक्षा अच्छे प्रकार करें। फिर उन प्रजाजनों से यथायोग्य राज कर लेवें और सब व्यवहारों में विद्या की वृद्धि और सत्य वचन का आचरण करें। इस प्रकार धर्म, अर्थ और कामनाओं से प्रजाजनों को सन्तोष देकर आप सन्तोष पावें।

---

1. यजुर्वेद 9.40.
2. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 129–130.

आपत्काल में राजा प्रजा की तथा प्रजा राजा की रक्षा कर परस्पर आनन्दित हों।"[1] आधुनिक सन्दर्भ में चक्रवर्ती ओर माण्डलिक राजाओं से अभिप्राय कथंचित् क्रमशः केन्द्रीय और प्रादेशिक स्तर पर कार्य करने वाले प्रधान मन्त्री व मुख्यमन्त्रियों से माना जा सकता है। चक्रवर्ती राजा से सारे भूमण्डल का राजा भी महर्षि को अभिप्रेत था।

महर्षि दयानन्द ने शिक्षा के विषय में राजाओं के कर्त्तव्य निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि राजा ऐसा प्रयत्न करे जिससे राष्ट्र का कोई बालक एवं बालिका शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा से वंचित न रहे, साथ ही प्रत्येक बालक व बालिका को शिक्षा प्राप्त करना राजनियम द्वारा अनिवार्य हो। "राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखकर विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता–पिता को दण्ड देना अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य कुल में रहें।"[2] वैदिक राजनीति का उल्लेख महर्षि जी ने अपने ग्रन्थों में किया है–

राज्य–सभाओं को उसका मुख्य केन्द्र बिन्दु माना जा सकता है। राज्य व्यवस्था के समुचित रूपेण संचालनार्थ वे राज्य सभाओं के निर्माण पर अत्यधिक बल देते हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र[3] के व्याख्यान में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में तीन सभाओं के निर्माण की चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है–

---

1. द्रष्टव्य मन्त्र–
   इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रा एतम्।
   तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा।।
   यजुर्वेद– 8.37, दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
2. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ. 71.
3. त्रीणि राजाना विदथे पुरुणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
   अपश्यमत्रमनसा जगन्वान् व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्।।
   ऋग्वेद– 3.38.6.

"इदमत्र बोध्यम्–राजार्यसभा, तत्र विशेषतो राजकार्याण्येव भवेयुः। द्वितीयाऽऽर्यविद्यासभा, तत्र विशेषतो विद्या प्रचारोन्नती एव कार्ये भवतः। तृतीयाऽऽर्यधर्मसभा तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिचोपदेशेन कर्त्तव्या। अर्थात् तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीन सभाएं हैं– प्रथम राज्य प्रबन्ध के लिए 'आर्यराजसभा' कि जिससे विशेष करके सब राजकार्य ही सिद्ध किये जायें, दूसरी 'आर्यविद्यासभा' कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाये, तीसरी 'आर्यधर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे।"[1]

यजुर्वेद (7.35 मन्त्र) के भाष्य में अध्यापकों की जीविका या उनकी दक्षिणा का व्यय–भार प्रधान रूप से राजा वहन करे, ऐसा संकेत मिलता है–

"सर्वेषां विदुषां सर्वासां विदुषीणां च योग्यतास्ति सर्वेभ्यः बालकेभ्यः कन्याभ्यश्चाहर्निशं विद्यादानं राज्ञां धनिनां च पदार्थैः स्वजीविकां च कुर्युः। अर्थात् सब विद्वान् और विदुषी स्त्रियों की योग्यता है कि समस्त बालक और कन्याओं के लिए निरन्तर विद्यादान करें! राजा और धनी आदि लोगों के धन पदार्थों से अपनी जीविका करें।"[2]

प्रजाजन स्वयं राजा को ऐसे नियम बनाने के लिए कहें जिनसे सन्तान, सुशिक्षित हो सकें, इस प्रकार का निर्देश करते हुए महर्षि जी कहते हैं –

---

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजाधर्मविषय, प. 227–228.
2. इन्द्र मरूत्व इह पाहि सोमं यथा शार्य्याते अपिबः सुतस्य।
   तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः।
   उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मस्त्वत् एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते।।
   यजुर्वेद 7.35, दयानन्द भाष्य भावार्थ।

"हे प्रजाजनाः, राजानं प्रत्येवं ब्रवन्तु नोऽस्माकं सन्ताना यथा सुशिक्षिताः 'स्युस्तथा नियमान् विधेहि यतो विजयानन्दौ वर्धयाताम्। अर्थात् हे प्रजाजनों, आप लोग राजा के प्रति यह कहो कि हम लोगों के सन्तान जिस प्रकार उत्तम शिक्षित हों वैसे नियमों को करिये, जिससे विजय और आनन्द बढ़े।"[1]

"जो विद्या ग्रहण के नियमों का विच्छेद करे, महर्षि उनके लिए राजदण्ड का विधान करते हैं–

"पितृभि राजनीतौ स्वकुले वाऽयं दृढो नियमः कर्त्तव्यो यावन्त्यस्माकमपत्यानिस्युस्तावन्नि ब्रह्मचर्येण समस्तविद्याग्रहणाय ब्रह्मचर्य कुर्युर्योऽस्य विच्छेदं कुर्यात्तं राजा कुलीनाश्च–भृशं दण्डयेयुः। अर्थात् पितृजनों को राजनीति वा अपने कुल में यह दृढ़ नियम करना चाहिए कि जितने हमारे सन्तान हैं, वे ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं के ग्रहण करने के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को करें, जो इनका विनाश करे उसे राजा का कुलीन निरन्तर दण्ड देवें।"[2]

जो विद्वान् विद्यार्थियों को विद्यासुशिक्षा से युक्त करते हैं, वे राजा द्वारा सत्कारणीय हैं, ऐसा ऋग्वेद के एक मन्त्र में निर्देश मिलता है–

"ये विद्वांसो धान्येन कुसूलमिव विद्यार्थिनां बुद्धिर्विद्यासु शिक्षाभ्यां पिपुरति ते राजसेव्याः स्युः। अर्थात् जो विद्वान् जन धान्य अन्न से जैसे मटके वा डिहरे को वैसे विद्यार्थियों की बुद्धियों को विद्या और उत्तम शिक्षा से तृप्त करते हैं, वे राजा के द्वारा

---

1. यस्ते मदः पृतनाषाढमृघ्र इन्द्र तं न आ भर शूशुवांसम्।
   येन तोकस्य तनयस्य सप्तो मंसीमहि जिगीवांसस्त्वोताः।।
   ऋग्वेद– 6.19.7, दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
2. उप नः सूनवो गिर शृण्वन्त्वमृतस्य ये।
   सुमृळीका भवन्तु नः।।
   ऋग्वेद– 6.52.9, दयानन्द भाष्य, भावार्थ।

सेवा करने योग्य हैं।"[1]

महर्षि धनाढ्य–वर्ग में विशेष रूप से विद्या–शिक्षा का प्रसार करना चाहते थे, जिससे वे शिक्षित होकर दुर्व्यसनों में धन का अपव्यय न करें और स्वयं सन्मार्ग पर चलते हुए दूसरों को भी चलावें। एतदर्थ वे राज पुरुषों को प्रेरित करते हुए लिखते हैं–

राजपुरुषाः सर्वानैश्वर्ययुक्तान् परस्परं धनाढ्य– कुलोद्गतान् प्रजास्थान् सत्यन्यायेन संतोष्य ब्रह्मचर्येण विद्या ग्रहणाय प्रवर्त्तध्वम्। यतः कस्यापि पुत्रः पुत्री च विद्यायासुशिक्षे अन्तरा नावशिष्येत्। अर्थात् हे पुरुषो। प्रजाओं में स्थित जो ऐश्वर्य युक्त और धनाढ्य कुलों में उत्पन्न जन हैं उन्हें परस्पर सत्यन्याय से सन्तोष देकर ब्रह्मचर्य के नियम से विद्या ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त करो जिससे किसी का पुत्र और पुत्री विद्या और उत्तम शिक्षा के विना न रह जाये।"[2]

महर्षि दयानन्द अन्यत्र भी लिखते हैं– "सदा जो राजाओं का वेदप्रचाररूप अक्षय कोश है इसके प्रचार के लिये जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवें उनका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें।"[3]

---

1. अध्वर्यवो यो दिव्यस्य वस्वोयः पर्थिवस्य क्षम्यस्य राजा।
   तमूर्दरं न पृणता यवेनेन्द्रं सोमेभिस्तदपो वो अस्तु।।
   ऋग्वेद 2.14.11, दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
2. युवं धेनुं शयवे नाधितायापिन्वतमश्विना पूर्व्याय।
   अमुञ्चतं वर्तिकमहसो निःप्रति जङ्घां विश्पलाया अधत्तम्।।
   ऋग्वेद 1.118.8., दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
3. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 140.
   (आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
   नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते।
   मनुस्मृति 7.82.

महर्षि ने कतिपय अन्य कर्त्तव्यों की ओर राजा का ध्यान आकृष्ट करते हुये कहा है– "परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खें कि जहाँ तक बन सके, वहाँ तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी बिना प्रसन्नता के विवाह न करना–कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना–कराना। व्यभिचार और बहुविवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या–ज्ञान बढ़ाये जायें और शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सैंकड़ों विद्वानों को जीत सकता है। और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाय, आत्मा का नहीं, तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती।..... और इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि 'यथा राजा तथा प्रजाः"[1] जैसा राजा होता है वैसी ही उनकी प्रजा होती है। इसलिए राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से वर्त कर सब के सुधार का दृष्टान्त बनें।[2]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने राजाओं के कर्त्तव्य निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि राजा ऐसा प्रयत्न करे जिससे राष्ट्र का कोई बालक एवं बालिका शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा से वंचित न रहे, साथ ही प्रत्येक बालक व बालिका को शिक्षा प्राप्त करना राज नियम द्वारा अनिवार्य हो, शिक्षा प्रसार के लिए धन की जितनी आवश्यकता हो उसकी पूर्ति करते हुए जो विद्वान् शिक्षा के प्रचार–प्रसार में संलग्न हो, उनका धनादि से यथोचित सत्कार करना भी राजा का परम कर्त्तव्य है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि महर्षि छात्रों के माता–पिताओं को बड़े–बड़े शिक्षा–शुल्कों के भार से मुक्त रखना चाहते थे। हाँ यदि वे धनी हैं तो स्वेच्छा से राज्य द्वारा चलाये जा रहे विद्यालयों को आर्थिक सहयोग दे सकते हैं।

---

1. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठसमुल्लास, पृ. 163.
2. वही– पृ. 163.

षष्ठ अध्याय

राष्ट्रोत्थान में दयानन्द का आर्थिक–चिन्तन

6.1. महर्षि दयानन्द की दृष्टि में 'अर्थ' और उसका महत्त्व

6.2. दयानन्द का आर्थिक चिन्तन और राष्ट्र

6.3. दयानन्द कालिक उत्पादन

6.4. उद्योग धन्धे, कलाकौशल एवं शिल्प

6.1. महर्षि दयानन्द की दृष्टि में 'अर्थ' और उसका महत्त्व

महर्षि दयानन्द आधुनिक युग के वेदों के सबसे बड़े विद्वान्, संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित, समाज सुधारक और शिक्षा शास्त्री आदि ही नहीं थे अपितु वे एक अर्थशास्त्री भी थे। उन्होंने अर्थ का भी उतना ही अध्ययन किया था जितना कि धर्म का। महर्षि के अनुसार 'अर्थ' वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाए। जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको 'अनर्थ' कहते हैं।[1] इसका अर्थ यह है कि अपने परिश्रम से राज्य–नियमों के अनुसार जो अर्जित किया जाता है, वही अर्थ है। चोरी, लूट–खसोट, शोषण आदि से अर्जित वस्तु अथवा धन अनर्थ है।

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अर्थ का अभिप्राय धर्म पूर्वक प्राप्त किये गये जीवित रहने के साधनों से है। वे लिखते हैं –

– अर्थ जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है।[2]

– अर्थ– सुवर्णादिरत्न।[3]

– अर्थ अर्थात् राज्य धनादि।[4]

– अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य बढ़ाने वाला है।[5]

– धर्म युक्त पुरुषार्थ से जो धन (अर्थ) कमाया जाता है उसे वास्तविक धन कहते हैं। किन्तु अन्याय–अधर्म से उपर्जित धन महर्षि के मत में धन नहीं है।[6]

– जिस धन से पुष्टि, विद्या, विद्वानों का सत्कार, वेदविद्या की प्रवृत्ति और सर्वोपकार हो वही धर्म सम्बन्धी धन है और नहीं।[7]

---

1. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, अर्थ की परिभाषा, पृ. 564.
2. सन्ध्या... समर्पणम्।
3. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृ. 51.
4. वही, षष्ठ समुल्लास, पृ. 134.
5. वही, तृतीय समुल्लास, पृ. 65.
6. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका– 7.4.7.
7. वही, 1.142.12.

उपर्युक्त सभी उद्धरणों पर विचार करने से यह भली भांति विदित हो जाता है कि महर्षि की दृष्टि में अर्थ के अभिप्राय में सम्पूर्ण आर्थिक वस्तुएँ, सुवर्णादि रत्न,राज्य, धन, ऐश्वर्य बढ़ाने वाले साधन तथा मानव शरीर को सुविधापूर्ण जीवित रखने के धर्मयुक्त साधन आदि समाविष्ट हो जाते हैं। महर्षि की दृष्टि में अधर्म से कमाया गया धन या अर्थ, धन या अर्थ नहीं है अपितु अनर्थ है। इतना ही नहीं महर्षि ने तो यहाँ तक कहा है कि चाहे कितना ही दुःख पड़े तथापि अधर्म से द्रव्य संचय कभी न करें।[1] चाहे भोजन, छादन, जलपान आदि की जीविका भी अधर्म से सिद्ध हो सके वा प्राण जाते हों परन्तु जीविका के लिए धर्म कभी भी न छोड़े।[2]

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अर्थ का महत्त्व :–

मानव जीवन चार अंगों के संघात का परिणाम है यथा–शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। मनुस्मृति में मानव जीवन के इन चारों अंगों शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को गिनाया गया है[3] जिसको महर्षि दयानन्द ने भी उद्धृत किया है।[4] मनु ने उक्त चारों अंगों को गिनाते हुए कहा है– पानी से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है। मनु ने जहाँ इन चारों अंगों का पानी आदि पृथक्–पृथक् चार पदार्थों से शुद्धि बताई है। वहाँ इन शरीरादि चारों अंगों को चार पृथक्–पृथक् पदार्थों की आवश्यकता भी होती है। ये चारों आवश्यक पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हैं। शरीर पोषण के लिए अर्थ, मन की सन्तुष्टि के लिए काम की, बुद्धि

---

1. संस्कारविधि, गृह्य. पृ. 262.
2. वही पृ. 274.
3. अद्भिर्गात्राणि शुध्यान्तिमनः सत्येन शुध्यति।
   विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।
   मनुस्मृति 5.109.
4. सत्यार्थप्रकाश, तृतीयसमुल्लास, पृ. 38.

के लिए धर्म की और आत्मा की शान्ति के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है। शरीर की आवश्यकता अन्नादि पदार्थों से सिद्ध होती है, और अन्नादि पदार्थ अर्थ से सिद्ध होते हैं, इसलिए आर्य को अपने परिश्रम से राज्य–नियमों के अनुसार अर्जित करना चाहिए, जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको अनर्थ कहते हैं।

महर्षि दयानन्द के साहित्य पर विचार करने पर अर्थ की प्रतिष्ठा पर दो बातें प्रकट होती हैं। प्रथम यह है कि आर्यसमाज के छठे नियम में लिखा है कि संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।[1] महर्षि की दृष्टि में शारीरिक उन्नति से तात्पर्य आर्थिक उन्नति से है। क्योंकि अर्थ (अन्नादि पदार्थ) के बिना शरीर का स्वस्थ रहना तो दूर जीवित रहना भी असम्भव है। आत्मिक उन्नति से तात्पर्य आध्यात्मिक (धार्मिक) उन्नति से है और सामाजिक उन्नति से तात्पर्य पारिवारिक उन्नति से लगाकर राष्ट्रीय उन्नति तक से है। शारीरिक उन्नति के लिए महर्षि के आर्थिक विचारों का अध्ययन, आत्मिक उन्नति के लिए धर्म और दर्शन सम्बन्धी विचारों का अध्ययन एवं सामाजिक उन्नति के लिए समाज सुधार, राजनीति तथा राष्ट्रवादी विचारों का अध्ययन करना अपेक्षित होगा।

अब विचारधीय विषय यह है कि उक्त आर्यसमाज के छे नियम में प्रथम स्थान शारीरिक उन्नति अर्थात् शरीर की आवश्यकता अर्थ को दिया है। बिना अर्थ के शरीर की उन्नति नहीं हो सकती। दूसरा स्थान आत्मिक उन्नति अर्थात् आध्यात्मिक (धार्मिक) उन्नति को दिया है।

यह निर्विवाद है कि अर्थ मानव ही नहीं प्राणी मात्र की मूल आवश्यकता है। अर्थ के बिना शरीर का जीवित रहना ही असम्भव है तो संसार के उपकार का क्या अर्थयदि मानव का शरीर ही नहीं तो अकेले आत्मा क्या करेगा। दूसरा यह है कि

---

1. आर्यसमाज का छठा नियम।

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन, स्वस्थ बुद्धि और स्वस्थ आत्मा का निवास होता है। शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम् अर्थात् धर्म प्राप्ति के लिए शरीर ही एक मात्र साधन है। अतः महर्षि के द्वारा इस नियम में अर्थ को प्रथम स्थान देना समीचीन है।

दूसरा यह है कि महर्षि ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर धर्म को प्रथम स्थान और अर्थ को द्वितीय स्थान भी दिया है।

- सब मनुष्य दिन रात आप्त विद्वानों के संग से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को उत्तम रीति से सिद्ध करें।[1]
- जो पुरुष धर्म को ही प्रधान समझता है... परम दर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त करता है।[2]
- रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात में उठे आवश्यक कार्य करके धर्म एवं अर्थ पर चिन्तन करें, अपने शरीर के रोग एवं उनके कारणों को दूर करने का विचार करे अर्थात् अपने शरीर को स्वस्थ रखें।[3]
- अर्थ वह है कि जो धर्म से प्राप्त किया जाए।[4]
- यदि बहुत साधन, राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवें।[5]
- अधर्म से काम के सिद्ध करना इसी को अनर्थ कहते हैं (अर्थापत्ति धर्म से काम को सिद्ध करना इसी को अर्थ कहते हैं) और धर्म एवं अर्थ से कामना अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना इसको काम कहते हैं और अधर्म अर्थात् अनर्थ से

---

1. यजुर्वेद 8.16, दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
2. सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास, पृ. 99.
3. वही, पृ. 96.
4. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, पृ. 564.
5. संस्कारविधि, गृह्य, पृ. 224.

काम को सिद्ध करना इसको कुकाम कहते हैं, इसलिए इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना चाहिए।[1]

इन उद्धरणों से यह सिद्ध हो रहा है कि महर्षि धर्म को अर्थ से प्रथम स्थान दे रहे हैं। इस प्रकार महर्षि ने जहाँ पर भी धर्म को अर्थ से पहला स्थान दिया है वहाँ अर्थ पर धर्म का नियन्त्रण रहना चाहिए यह महर्षि की मान्यता है। क्योंकि धर्म रहित अर्थ की प्राप्ति समाज में अनेक आर्थिक समस्याएँ और विषमताएँ उत्पन्न कर देंगी और जहाँ पर शारीरिक उन्नति अथवा आर्थिक उन्नति की चर्चा की गई है वहाँ अर्थ का प्रधान महत्त्व प्रतिपादित कर अर्थ को धर्म से प्रथम स्थान पर रखा गया है जो समुचित है। महर्षि दयानन्द सामान्य रूप में पुरुषार्थ चतुष्ट्य के क्रम में धर्म, अर्थ,काम और मोक्ष इस क्रम को स्वीकार करते है और स्थान–स्थान पर लिखते हैं– धर्म पूर्वक अर्थ और काम की प्राप्ति करें, मोक्ष अवश्य मिलेगा। अपने ग्रन्थों में धर्म सहित अर्थ के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए व्यक्ति को धन कमाने के लिए प्रेरित करते हैं–

– मृत्यु पर्यन्त लक्ष्मी की उन्नति में पुरुषार्थ किया करें और लक्ष्मी को दुर्लभ न समझें।[2]
– सब मनुष्यों को उचित है कि..... पुरुषार्थी और यशस्वी होकर विद्या राज्य की प्राप्ति के लिए सदैव उपाय करें।[3]
– धन जोड़ने की इच्छा अपने पूर्ण पुरुषार्थ से करे।[4]

---

1. दयानन्द शास्त्रार्थ संग्रह –मेलाचांदपुर, पृ. 101.
2. संस्कारविधि गृह्य, पृ. 263.
3. अस्मान्सुतत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः।
   तुविद्युम्न यशस्वतः।
   ऋ.द.भा. 1.9.6.
4. वही– 1.9.7.

- मनुष्यों को चाहिए कि ऐसी वाणी ग्रहण करें और सुने कि जिससे धन संग्रह होता है।[1]
- शारीरिक बल के बिना बल का कोई लाभ नहीं। स्वस्थ शरीर ही धर्म की रक्षा करने में समर्थ होता है।
- अर्थ के महत्त्व का पतिपादन करते हुए महर्षि ने 21 विद्याओं में अर्थवेद (अर्थशास्त्रम्) को 8वीं विद्या में गिनाया है तथा अर्थशास्त्र में शिल्प विद्या (शिल्प विद्या, कलाकौशल और भवन निर्माण) को भी समाविष्ट किया है। यों तो अर्थवेद अथर्ववेद का उपवेद है।[2]
- आत्मा और शरीर का समान महत्त्व है। विद्या से आत्मा का और अर्थ से शरीर का उपकार होता है।[3]

निष्कर्ष यह है कि महर्षि दयानन्द का अर्थ के प्रति दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट था। उन्होने अर्थ की प्राप्ति को अर्थात् भौतिक सम्पन्नता को हेय की दृष्टि से कभी भी नहीं देखा और मनुष्य की शारीरिक उन्नति को सब उन्नतियों में प्रथम स्थान दिया। उनके संसार के उपकार का यही अर्थ है कि व्यक्ति पहले अपने शरीर को स्वस्थ बनाये। इसके लिए उसे अर्थ की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि बिना अर्थ के शरीर की उन्नति नहीं हो सकती। अतः महर्षि ने धर्म युक्त अर्थ की प्राप्ति पर बल दिया है अर्थात् भौतिक और आध्यात्म का समन्वय किया है।

6.2. दयानन्द का आर्थिक चिन्तन और राष्ट्र :–

वैदिक काल से लेकर ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ काल तक भारत आर्थिक दृष्टि से पूर्ण खुशहाल था और इसकी कृषि, उद्योग और व्यापार पूर्ण

---

1. तुभ्यं ब्रह्माणि गिर इन्द्र तुभ्यं सत्रादधिरे हरिवो तृषस्व।
   वोध्य पिश्वसो नूतनस्य सखे वसो जरितृभ्यो वयोधाः।। ऋ. 3.51.6.
2. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ. 856.
3. ऋग्वेदभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञा विषय, पृ. 266.

उन्नत थे यह निर्विवाद सत्य हैं। आर्थिक दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व भारत अधिकांश योरोपीय राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक समृद्ध था। भारत के उद्योगों में बनी वस्तुए अपनी सुन्दरता, कलादक्षता एवं टिकाऊपन के लिए विश्व में प्रसिद्ध थी। भारत के समुद्र तट पर विश्व के विभिन्न कोणों से व्यापारी व्यापार करने आते थे एवं अपना सामान हीरे, जवाहरात, सोना, चाँदी आदि भारत में विक्रय कर भारत से सूती माल नील, रेशम व जरी का कपड़ा, शोरा, तम्बाकू आदि ले जाते थे। पूर्व–पश्चिम दोनों में भारतीय दस्ताकारों, विशेष कर बुनकरों की कला– दक्षता का बड़ा सम्मान था। किसी देश के धन की पहिचान उस समय उसके स्वर्ण व चाँदी के संग्रह से की जाती थी। भारत इस दृष्टि से सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व निःसन्देह विश्व का सबसे बड़ा धनी देश माना जाता था।[1] भारत का प्राचीन इतिहास इस तथ्य की साक्षी दे रहा है और 1918 सन् के औद्योगिक आयोग का भी कथन है कि जिस समय पश्चिमी यूरोप में जो कि आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का जन्म स्थान है, असभ्य और जंगली लोग निवास करते थे उस समय भारत अपने प्रभावशाली कला कौशल और शिल्पकारों के स्तुत्य तथा अपने शासकों की अपार सम्पत्ति से सम्पूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त कर चुका था।[2]

महर्षि दयानन्द प्राचीन भारत की आर्थिक समृद्धि की प्रशंसा करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं– यहाँ आर्यावर्त देश ऐसा है कि जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई भी देश नहीं है। इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि इसीलिए है क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। भूगोल में जितने भी देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हुए आशा रखते हैं कि पारसमणि पत्थर सुना जाता है वह बात तो असत्य है किन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि पत्थर है जिसको लोहे रूप में दरिद्र विदेशी छूते ही सुवर्ण और धनी हो जाते थे। इसी लिए सृष्टि के आदि में आर्य लोग इसी देश

---

1. भारतीय अर्थशास्त्र, खण्ड–1, पृ. 114.
2. वही, पृ. 113.

में आकर बसे।[1]

भारतीय कृषि, उद्योग, व्यापार आदि के लिए भारत की हार और ब्रिटिश शासन की स्थापना ने सन् 1757 में प्लासी की लड़ाई में अवनति के बीज वो दिये।

ब्रिटिश संसद और ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने घोर स्वार्थपरता की नीति अपना कर, अंग्रेजी राज्य की स्थापना के आरम्भिक युग में भारतीय कारखानों को हतोत्साहित किया और अंग्रेजी कारखानों को पूर्ण सहयोग दिया।[2]

भारत में बहुत सा कागज सन् 1840 से पहिले चीन से आता था किन्तु सन् 1840 के पश्चात् हाथ से कागज बनाने के अनेक कारखाने देश में खुल गये जिसमें हिन्दू मुसलमान सब मिलकर काम करते थे। देश की आवश्यकता इन कारखानों में बने कागज से पूरी होने लगी थी, परन्तु सर चार्ल्स बुड ने भारत का मन्त्री बनते ही यह आदेश निकाला कि सरकार अपने खर्च के लिए सम्पूर्ण कागज इंग्लैण्ड से मंगाए इस प्रकार भारत का बढ़ता हुआ कागज उद्योग नष्ट होने लगा।[3]

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय चीनी उद्योग भारत मे अपने शिखर पर था, भारत से इंग्लैण्ड एवं यूरोप में हजारों मन चीनी जाती थी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय चीनी पर इतना अधिक आयात कर लगा दिया कि वह इंग्लैण्ड आदि देशा में जा ही न सके।[4]

भारतीय सूती और रेशमी कपड़ों पर इतना ज्यादा आयात कर लगा दिया कि वे इग्लैण्ड के बाजारों में प्रवेश ही ना पा सकें। हिन्दुस्तान से जो रुई चीन भेजी जाती

---

1. भारतीय अर्थशास्त्र, पृ. 117.
2. भारती में अंग्रेजी राज, सुन्दर लाल, द्वितीय भाग, पृ. 582.
3. वही, पृ. 583.
4. स.प्र. एका. समु. पृ. 259.

थी उस पर कर घटाकर पाँच प्रतिशत कर दिया गया था परन्तु भारत से ब्रिटेन में जो रूई भेजी जाती थी उस पर कर माफ कर दिया था।[1]

भारत की कृषि या खेती में भी यही स्थिति हुई। बड़े–बड़े जमीदार और सामन्त सैंकडों और हजारों एकड भूमि के जो अपने को मालिक मानते थे एवं किसानों और मजदूरों को अपनी जमीन जोतने के लिए दे देते थे तथा बदले में उपज का बहुत बडा हिस्सा लगान के रूप में वसूला करते थे। किसानों को एक ओर खेती करने के साधनों की कोई सुविधा न होने के पश्चात् भी सख्ती से गरीब किसानों से पूरा लगान वसूल करना और न देने पर बिना कसूर पीटना, इतना ही नहीं उनकी मां, बहन और बेटियों के साथ बलात्कार करना आम बात थी।[2] अनेक बार ऐसा भी होता था कि इन निर्दयी लुटेरों ने उन्हें विवश कर दिया कि वे लगान जमा करने के लिए या तो अपने बच्चों को बेच दें या देश छोड़कर भाग जाएं।[3]

ब्रिटिश भारत में शिल्प नष्ट हो जाने के कारण बहुत से शिल्पकार और जमींदारी में फंसी खेती में हो रहे शोषण से बहुत से किसान और खेतिहर मजदूर भूखे मर रहे थे, उनके पास कोई भी सुलभ रोजगार नहीं था। इस स्थिति का गोरे लोगों ने बहुत लाभ उठाया और कम दर पर मजदूरों को प्राप्त कर बिहार एवं बंगाल के क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर हिमालय की तराई में चाय की खेती और नील की खेती प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार गरीब किसान और मजदूर शोषण व अन्याय की चक्की में पिस रहा था।4

1859–60 ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध मजदूर लोगों ने जब अन्याय असहनीय

---

1. भारती में अंग्रेजी राज– सुन्दर लाल, भाग–2, पृ. 571.
2. भारतीय अर्थशास्त्र, पृ. 337.
3. भारत गें अंग्रेजी राज, पृ. 568.
4. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्य समाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 146.

हुआ तो बगावत का बिगुल बजा दिया, जिसका सरकार ने क्रूरता के साथ दबा दिया।[1] ब्रिटिश भारत में चाय और नील की खेती का इतिहास इस प्रकार गुलामी की प्रथा का अत्यन्त लज्जा जनक इतिहास है। इस इतिहास का दूसरा उदाहरण ढूंढने के लिए हमें पौने दो हजार साल पूर्व रोमन की गुलामी प्रथा के आमानुषिक इतिहास की शरण लेनी पड़ेगी।[2]

सारांश यह है कि भारत की 2000 (दो हजार) वर्षों की गुलामी इतनी भयंकर थी जिसने सोने की चिड़िया कहलाने वाले भारत को एक निहायत निर्धन देश बना कर रख दिया।

महर्षि दयानन्द कालिक भारत की यह आर्थिक व्यवस्था केवल ब्रिटिश सरकार की नीतियों के कारण ही नष्ट अथवा अस्त–व्यस्त हुई यह कहना सर्वश में सत्य नहीं हैं। हाँ भारत की अर्थ व्यवस्था को बढ़ से बदतर बनाने में ब्रिटिश सरकार पूर्ण उत्तरदायी है। परन्तु उससे पूर्व और तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां भी कम जिम्मेदार नहीं है।[3] यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो यही परिणाम निकलेगा कि ब्रिटिश सरकार ने तो तत्कालीन भारत की पतनीय धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का पूर्ण लाभ उठाया था।

महर्षि दयानन्द जब कार्य क्षेत्र में उतरें तो उन्होने देश की अनेक प्रकार स हा रही दुर्दशाओं के साथ–साथ आर्थिक दृष्टि से हो रही दुर्दशा को भी अपनी आँखों से देखा था।

---

1. आर्य समाज का इतिहास– सम्पादक डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार, भाग–1, पृ. 146.
2. भारत में अंग्रेजी राज, सुन्दर लाल, द्वितीय भाग– पृ. 987.
3. सत्यार्थ प्रकाश एका. समु. के प्रारम्भिक पृष्ठ।

उन्होंने अनुभव किया कि हमारे देश का धन विदेशों में जा रहा है और पाश्चात्य देशों की औद्योगिक उन्नति के तुलना में हमारे देश का व्यापार तथा व्यवसाय बहुत पिछड़ा हुआ है।[1]

कृषि, कृषक और श्रमिकों की दयनीय स्थिति से वह बहुत चिन्तित थे। उनकी दृष्टि में कृषकों और श्रम जीवियों का बहुत सम्मान था।[2]

आश्विन शुक्ल 10 बुधवार 1936 वि. (25 सित. 1879 ई.) से महर्षि दयानन्द फरूंखावाद में विराज रहे थे। एक दृश्य गंगा के किनारे उनके सामने उपस्थित हुआ, किसी वृद्धा स्त्री के युवा पुत्र की मृत्यु हो गई थी। दरिद्रता के घोर अभिशाप से ग्रस्त यही स्त्री मृत पुत्र के लिए कफन भी नहीं जुटा पाई और न शव जलाने के लिए पर्याप्त ईंधन। फलतः यह अभागिनी विधवा अपने लाल को गंगाजल में प्रवाहित करने पर विवश हुई। विधवा के दुःख को देख करुणापूर्ण उद्‌गारों का स्रोत उमड़ पड़ा था। हमारे देश की निर्धनता किस सीमा तक पहुँच गई है। देश के मृतकों को कफन और ईंधन (काष्ठ) भी उपलब्ध नहीं होता।[3]

महर्षि दयानन्द राष्ट्र की उपर्युक्त आर्थिक दुर्दशा पर आँसू बहाकर चुप ही नहीं रहें उन्होंने सुषुप्त राष्ट्र को जगाया और सन्मार्ग पर ले आये।

---

1. नव जागरण के पुरोधा, दयानन्द सरस्वती– डॉ0 भवानीलाल भारतीय, पृ. 225.
2. वही– पृ. 217.
3. वही– पृ.372–373.

6.3. दयानन्द कालिक उत्पादन :–

उत्पादन से अर्थ :–

अर्थशास्त्र से अपरिचित व्यक्ति प्रायः उत्पादन का अर्थ किसी नई वस्तु के सृजन करने से लगाता है। किन्तु हम यह भलीभांति जानते हैं कि मनुष्य न तो किसी प्रदार्थ का सृजन कर सकता है न ही उसे नष्ट कर सकता है। वह तो किसी पदार्थ में अपने बुद्धि और श्रम चातुर्य से परिवर्तन कर उसे मनुष्य अथवा अन्य चौपायों आदि जीवधारी प्राणियों के लिए अधिक उपयोगी बना देता अथवा पहिले से ही उपयोगी पदार्थ की उपयोगिता में और अधिक वृद्धि कर देता है।

उदाहरणार्थ– मिट्टह प्रकृति प्रदत्त है। वह सभी के लिये उपयोगी है। परन्तु कुम्भकार अपने बद्धि और श्रम चातुर्य से उसे अनेक रूपों में परिवर्तित कर घड़ा, सुरै एवं दीपदान आदि बनाकर मिट्टी को और अधिक उपयोगी अथवा उसकी उपयोगिता में और अधिक वृद्धि कर देता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र की भाषा में मिट्टी से घड़ा, लकड़ी से कुर्सी, पत्थर से चूना सीमेन्ट तथा रूई से वस्त्र आदि बनाना उत्पादन कहा जाता है।[1] प्रो0 मेयर्स ने भी कहा है कि उत्पादन वह क्रिया है जिसका परिणाम विनिमय की जाने योग्य वस्तुओं अथवा सेवाओं की प्राप्ति से होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक वस्तुओं पर मानवीय श्रम का विनियोग ही उत्पादन है।[2]

उत्पादन की आवश्यकता :–

उपभोग शीर्षकान्तर्गत विवेचित मनुष्य की समस्त प्राथमिक और गौण आवश्यकताएं और उनकी पूर्ति, सम्बन्धित पदार्थों के उत्पादन करने से होगी अर्थात अन्न वस्त्र मकान इत्यादि सब उत्पादन करने से ही प्राप्त होंगें।

---

1. अर्थ.शा. के मूल सिद्धान्त। पृ. 231–232.
2. वही, पृ. 232 (मेयर्स)

उत्पादन के साधन :–

जिन पदार्थों के सहयोग से उत्पादन होता है, उन्हें उत्पादन के साधन कहते हैं।[1]

प्रारम्भ में उत्पादन के केवल दो ही साधन माने जाते थे– मनुष्य और प्रकृति। मनुष्य से प्राप्त होता है बुद्धि और श्रम एवं प्रकृति से प्राप्त होता है– भूमि, मिट्टी, वृक्ष, वनस्पति, खनिज, हवा और पानी आदि। इस प्रकार ये दोनों साधन मौलिक माने जाते हैं। वर्तमान में अर्थशास्त्र में उत्पादन के पाँच साधन माने जाते हैं यथा–भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध और साहस जो भूमि और मनुष्य के श्रम आदि के ही विभिन्न रूप हैं।[2]

1. भूमि :–

भूमि का अर्थ अर्थशास्त्रियों के अनुसार उन सब पदार्थों और शक्तियों से लिया जाता है जो प्रकृति की ओर से मानव की सहायता के लिए भूमि, पानी, हवा, प्रकाश तथा गर्मी–सर्दी आदि के रूप में निःशुल्क प्राप्त होती है।

इस प्रकार वे सभी पदार्थ जो प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क भूमि की सतह पर सतह के नीचे और सतह के ऊपर पाये जाते हैं– भूमि के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार भूमि के अन्तर्गत भूमि की तरह, भूमि की उर्वरा शक्ति, जंगल, पहाड़, नदी, नाले, पशु–पक्षी, खनिज, समुद्र, झीलें, वायु, प्रकाश, गर्मी, सर्दी आदि सम्मिलित होते हैं।[3]

भूमि की आवश्यकता और ऋषि दयानन्द :–

भूमि ही उत्पादन का मुख्य साधन हैं जो प्रकृति से मनुष्य को निःशुल्क प्राप्त हुई हैं। इसी के माध्यम से मनुष्य अपने शारीरिक एवं बौद्धिक बल से उत्पादन की

---

1. अर्थ. शास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 233.
2. अर्थ. शास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 234.
3. वही, पृ. 238.

व्यवस्थित प्रक्रिया का निर्माण कर मानव निर्मित पदार्थ एवं सम्पत्ति का उत्पादन एवं अर्जन कर सकता है।

भूमि के बिना मानव के श्रम एवं बुद्धि के रहते हुए भी कोई उत्पादन सम्भव नहीं है क्योंकि–

- भूमि प्रकृति की देन है, अतः इसका उत्पादन व्यय कुछ भी नहीं होता। प्रकृति से यह निःशुल्क प्राप्त हुई है।
- भूमि की पूर्ति सदा के लिए स्थाई है।
- भूमि उत्पादन का अविनाशी साधन है।

उदाहरणार्थ– यदि जंगल का पेड़ दावानल से जलकर कोयला भी हो जाए तो भी भूमि की कहलाएगा। इसी तरह भू–रक्षण से उर्वरा भूमि यदि सूखकर बालू हो जाए तो भी भूमि ही कहलाएगी।

- भूमि अचल साधन है अर्थात् इसका स्थानान्तरण नहीं होता। हां स्वामित्व का हस्तान्तरण हो सकता है।
- भूमि उत्पादन का निष्क्रिय साधन है अर्थात् जब तक भूमि पर श्रम नहीं लगाया जाता उत्पादन नहीं हो सकता।
- भूमि सृष्टि के साथ उत्पन्न हुई है अतः यह उत्पादन का मौलिक साधन है।[1]

इस प्रकार भूमि पर ही उत्पादन के सभी क्षेत्र आधारित हैं। खेती वनसम्पदा और पर्वत सम्पदा का तो भूमि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कृषि भूमि की सतह पर और पर्वत (खनिज) और वन सम्पदा का दोहन भूमि के गर्भ और ऊपरी सतह में स्थित वनों से किया जाता है।

पशु पालन का आधार भी जंगल (भूमि) है। शिल्प, कला, उद्योग, व्यवसाय–व्यापार सब भूमि पर ही होते हैं। सम्पूर्ण विज्ञान भूमि पर ही पनपता हैं। सारांश यह है

---

1. भूमि की आवश्यकता के लिऐ देखें– अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 238–239.

कि भूमि के बिना कोई किसी भी प्रकार का उत्पादन नहीं हो सकता।

यह भूमि ही सब मूर्तिमान पदार्थों के रहने की जगह और अनेक प्रकार के सुखों को कराने वाली होती हैं।[1]

पृथिवी यह नाम बिना प्रकाश वाले लोकों का है मनुष्यों को इनसे प्रयत्न के साथ उपकारों को ग्रहण करके उत्तम–उत्तम सुखों को सिद्ध करना चाहिए।[2]

पृथिवी सबका आधार है। अन्न का उत्पादन इसी से होता है और रहने का घर भी यही है इसीलिए इसे माता के तुल्य माना है।[3]

2. श्रम :–

श्रम का अर्थ और आवश्यकता :–

उत्पादन का दूसरा साधन श्रम है। सामान्य भाषा में मनुष्य शरीर और मस्तिष्क की सभी चेष्टाएं श्रम कही जाती है। परन्तु अर्थशास्त्र में– मनुष्य शरीर और मस्तिष्क की वे चेष्टाएं श्रम कहलाती हैं जो लाभ की दृष्टि से की जाती हैं।[4] किसान, खेतिहर मजदूर, कारखाने व अन्य उत्पादन आदि साधन एवं स्थान पर शारीरिक श्रम करने वाले सभी श्रमिक कहलाते हैं। यों तो उत्पादन के लिए शारीरिक और मानसिक श्रम प्रत्येक व्यक्ति करता है, परन्तु जिसके कार्य करने में शारीरिक श्रम प्रधान हो सामान्यतः वे सभी श्रमिकों की श्रेणी में आते हैं।

---

1. स्योना पृथिवी भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः।
   ऋ.द.भा 1.22.15.
2. मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम्। पिपृतां नो भरीमभिः।
   वही–1.22.13.
3. यजु.द.भा. 14.21, 12.103.
4. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 234 (जेवोन्स)

विना श्रम भूमि से कोई उत्पादन नहीं किया जा सकता। क्योंकि श्रम उत्पादन का सक्रिय साधन है और इसका महत्त्व भूमि के बराबर या उससे अधिक है क्योंकि वह (भूमि) उत्पादन का निष्क्रिय साधन है। श्रम उत्पादन का गतिशील साधन है वह एक स्थान से अथवा देश से दूसरे स्थान अथवा देश को जा सकता है क्योंकि श्रम, श्रमिक के साथ–साथ रहता है। श्रम को श्रमिक से पृथक् नहीं किया जा सकता।[1]

श्रम का विभाजन :–

विभिन्न प्रकार के उत्पादन करने के लिए श्रम का विभाजन अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। क्योंकि लागों की रूचि, प्रतिभा, शक्ति एवं योग्यता भिन्न–भिन्न होती है। यदि सभी व्यक्ति सब तरह के काम कर सकते होते तो सभी समान रूप से शक्तिशाली और सम्पन्न होते अतः श्र.वि. का विभाजन करना पड़ता है। किसी कार्य को कई खण्डों तथा उपखण्डों में बांट कर प्रत्येक खण्ड तथा उपखण्ड को विशेष मजदूरों–श्रमिकों के जिम्मे कर देना ही श्रम विभाजन कहलाता है।[2]

श्रम और महर्षि दयानन्द

समाज में भरपूर उत्पादन हो इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज का प्रत्यक व्यक्ति कुछ न कुछ श्रम अवश्य करें। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह किसी व्यक्ति को निकम्मा न बैठने दें और जो श्रम करने में आलस्य करे राजा उनको दण्ड दें।[3]

3. पूँजी :–

पूँजी का अर्थ और आवश्यकता :–

उत्पादन के माध्यम से मनुष्य के द्वारा एकत्र किये हुए धन का वह भाग पूंजी

---

1. श्रम की आवश्यकता, अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 244–245.
2. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 275.
3. असुन्वन्तं समं जहि– ऋ.द.भा. 1.176.4.

कहलाता है जो अधिक उत्पादन के काम में आता है।[1] पूंजी के अन्दर ही मुद्रा, औजार कच्चा माल एवं यन्त्र आदि भी आते हैं जिनका उपयोग उत्पादन करने में किया जाता है।

पूंजी के विना भी उत्पादन हो सकता है। चूंकि उत्पादन के लिए दो ही साधन मुख्य हैं– भूमि और श्रम। पूंजी का निर्माण भी ये दोनों साधन करते हैं। परन्तु अधिक उत्पादन के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है। क्योंकि उपभोग से जो बचा हुआ धन है और जिसको उत्पादन करने में प्रयोग किया जाए– पूंजी कहलाता है।

पूंजी और श्रम एक दूसरे के पूरक हैं :–

- पूंजी उत्पादन को बढ़ाती है। भूमि और श्रम से अकेले जितना उत्पादन हो सकता है, पूंजी के सहयोग से यह कई गुणा बढ़ जाता है।
- बिना श्रम के पूंजी का कोई मूल्य नहीं क्योंकि श्रम से ही पूंजी का निर्माण होता है।
- बिना पूंजी के श्रम का पूरा उपयोग नहीं हो पाता। क्योंकि अधिक उतपादन पूंजी से ही संभव होता है।
- श्रम और पूंजी के समन्वय से ही निर्माण और विकास सम्भव है। सम्पत्ति (पूंजी) का निरन्तर प्रवाह बना रहना चाहिए अन्यथा गड्ढे में सिमटे पानी की तरह उसमें बदबू आने लगेगी।[2]

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में पूंजी का संग्रह करना वैश्य का कार्य :–

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रम समाज व्यवस्था में उत्पादन करने का कार्य केवल वैश्य का ही दर्शाया गया है अतः अधिक उत्पादन करने हेतु वैश्य को ही पूंजी का संग्रह करना चाहिए।[3]

---

1. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 293.
2. श्रीराम पत्रिका 15 जून 1982. पृ. 5.
3. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास एवं संस्कारविधि गृहा.

पूंजी और महर्षि दयानन्द :–

महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्यादि में सर्वत्र अर्थ के लिए धन शब्द का ही प्रयोग किया है। चाहे वह धन उपभोग के अर्थ में आता हो चाहे उत्पादन के अर्थ में। परन्तु यदि गम्भीर रूप से विचार किया जाए तो महर्षि दयानन्द के कथनों से पूंजी शब्द भी सिद्ध किया जा सकता है। महर्षि दयानन्द धन और पूंजी में निम्न प्रकार अन्तर करते हैं–

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त की प्रयत्न से रक्षा करे, रक्षित को बढ़ावे और बढ़े हुए धन को वेद विद्या..... में लगावें।[1]

दण्ड से अप्राप्त से प्राप्ति की इच्छा नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित को वृद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य व्यय करे।[2]

रक्षित को बढ़ावे, रक्षित को वद्धि अर्थात् ब्याजादि से बढ़ावे और बढ़े हुए धन....। ये सब शब्द पूंजी के आशय को प्रकट करते हैं। इसमें रक्षित से धन का आशय प्रकट होता है और रक्षित अथवा धन को ब्याजादि से बढ़ाना पूंजी कहलाता है।

4. प्रबन्ध :–

प्रबन्ध का अर्थ आवश्यकता और ऋषि दयानन्द :–

प्रबन्ध से तात्पर्य उस बौद्धिक श्रम से है जो अपनी बुद्धि चातुर्य से पूंजी और श्रम का अन्य उत्पादन के साधनों में समन्वय बैठाता है।[3] यदि सही प्रबन्ध नहीं किया तो उत्पादन विषयक अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाता हैं।

---

1. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुल्लास एवं संस्कारविधि, पृ. 142.
2. सत्यार्थप्रकाश, षष्ठ समुलास, पृ. 142.
3. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ. 235.

पुराने जमाने में भूमि, श्रम और पूंजी एक ही स्थान पर उपलब्ध थे। उत्पादक अपने श्रम से अपनी भूमि पर तथा अपनी ही पूंजी लगाकर उत्पादन का कार्य करता था पर जनसंख्या की वृद्धि और समाज मे बढ़ रही जटिलताओं के कारण उत्पादन के साधनों का विकेन्द्रीकरण हो गया। फलतः एक ऐसे साधन की आवश्यकता हुई जो विभिन्न स्थानों में भूमि, श्रम और पूंजी जैसे प्रारम्भिक साधनों को उचित अनुपात तथा मात्रा में मिलाये तथा उन्हें उत्पादन के कार्य में नियोजित करे जो साधन यह कार्य करता है उसे प्रबन्ध या संगठन कहते हैं।

प्रबन्ध और श्रम दोनों मानवीय चेष्टाएं हैं। परन्तु प्रबन्ध में मस्तिष्कपक्ष प्रधान रहता है तो श्रम में शरीरपक्ष, श्रम एक नियम कर्म और शारीरिक अधिक होता है और प्रबन्ध निर्णय करता है और मानसिक अधिक होता है। प्रबन्धकर्ता आदेश देता है और श्रमिक उसका पालन करता है।

महर्षि दयानन्द स्वयं एक अच्छे प्रबन्धक थे।[1] जिसका दिग्दर्शन हमने पीछे कराया है।

5. साहस :–

साहस का अर्थ और आवश्यकता :–

उत्पादन का वह साधन जो व्यवसाय या उत्पादन की जोखिम उठाता है साहस कहलाता है।[2]

उत्पादन प्राणाली में जटिलता के विकास और विशाल पैमाने पर उत्पादन होने के कारण उद्योगों में बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता महसूस की गई। फलतः एक ऐसे साधन की जरूरत पड़ी तो उत्पादन के लिए पूंजी की आवश्यकता को पूर्ण करे

---

1. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन।
2. अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त। पृ. 316.

और उसके लाभ हानि का स्वयं जिम्मेवार हो।

वैसे ये पाँचों साधन दो मुख्य साधनों में ही आ जाते हैं। मानवीय साधन जिनमें श्रम, प्रबन्ध और साहस आते हैं और अमानवीय साधन जिनमें भूमि और पूंजी आते हैं।

उत्पादन के क्षेत्र :–

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है मनुष्य के श्रम का व्यक्तिगत विभाजन आश्रम व्यवस्था है[1] और सामाजिक विभाजन वर्ण व्यवस्था।[2] आश्रमों में श्रम के द्वारा धन कमाने का अधिकार केवल गृहस्थ को दिया है। उसी प्रकार वर्णों में केवल वैश्य को ही खेती पशु पालन एवं पूंजी और श्रम का समन्वय कर उद्योग आदि से उत्पादन करने का अधिकार दिया है। वैश्य का यह उत्तर दायित्व है कि वह समाज की आर्थिक आवश्सकताओं की पूर्ति करे। महर्षि दयानन्द के अनुसार– गाय आदि पशुओं का पालन करना वर्द्धन करना, विद्या धर्म की वृद्धि करने कराने के लिए धनादि का व्यय करना..... सब प्रकार के व्यापार करना.....ब्याज लेना.....खेती करना ये वैश्य के गुण कर्म हैं।[3] द्वीप द्वीपान्तर में जाना आना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी, जिससे कोई नष्ट न हो पावे।[4]

वेदादि शास्त्रों का पढ़ना, अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे दुग्धादि बेचना, नाना देशों की भाषा, हिसाब, भूगर्भ विद्या भूमि, बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना, ब्याज का लेना, खेती की विद्या जानना, अन्न आदि की

---

1. ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास।
2. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अर्थात् शिक्षक, सैनिक, व्यवसायी और श्रमिक।
3. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास, पृ. 84.
4. वही, पृ. 103.

रक्षा, खाद और भूमि की परीक्षा, जोतना, बोना आदि व्यवहार का जानना ये चार कर्म वैश्य की जीविका है।[1]

महर्षि दयानन्द ने उपर्युक्त वैश्य वर्ण के गुण कर्मों का जो विवेचन किया है उसके अनुसार उनके विचार से उत्पादन के निम्न क्षेत्र निर्धारित किये जा सकते हैं :–

1. कृषि या खेती।
2. पशुपालना।
3. वनसम्पदा।
4. पर्वतसम्पदा अथवा खनिज।

खेती :–

खेती की आवश्यकता और कुल उत्पादन में खेती का महत्त्व :–

कृषि या खेती सम्पूर्ण उत्पादन का मूल उत्पादन है। क्योंकि मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं में अन्न एवं वस्त्रादि का उत्पादन बिना खेती के सम्भव नहीं है। यही कारण है कि भारत (आर्यावर्त) के उद्‌भव से लगाकर वर्तमान तक यहाँ के निवासियों का मुख्य उत्पादन कर्म खेती करना ही रहता चला आ रहा है। भारत की 80 प्रतिशत प्रजा गाँवों में रहती है। इसलिए खेती भारत का एक महत्त्वपूर्ण और बड़ा उत्पादन क्षेत्र बन जाता है।

उत्पादन के प्रथम साधन भूमि पर ही खेती की जाती है और अन्नादि खाद्य एवं अन्य उत्पादन में सहयोग करने वाले विभिन्न पदार्थों का उतपादन किया जाता है। खेती मे प्रथम भाग भूमि का रहता है। दूसरा भाग श्रम का रहता हैं प्राचीन काल में खेती में प्रबन्ध, साहस तथा पूंजी साधन की इतनी अधिक आवश्यकता नहीं थी मुख्य

---

1. संस्कारविधि गृहा, पृ. 260–261.
   ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोक्त धर्म विषय, पृ. 77–78.

भाग भूमि और श्रम का ही रहता था। वर्तमान में खेती में उत्पादन के अन्य साधनों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।

खेती और महर्षि दयानन्द :–

महर्षि दयानन्द भारत के इस प्रमुख व्यवसाय खेती पर बहुत जोर देते थे। उनके खेती विषयक विचार, प्रकार, विधिविद्या एवं निर्देशन वेद पर आधारित हैं। वेद में विवेचित खेती व्यवस्था पर ही वे पुरजोर समर्थन करते हैं तथा अपने खेती विषयक सम्पूर्ण विचार वेद मन्त्रों के भाष्यादि के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

खेती करने के प्रमुख साधन :

1. उर्वरा भूमि, खेती के औजार, पशु, उत्तम बीज और उत्तम खाद आदि।
2. सिंचाई के साधन।
3. प्रशिक्षित किसान।
4. खेती को हानि पहुँचाने वालों पर नियन्त्रण।

1. **भूमि को उर्वरा** अथवा उपजाऊ बनाने के लिये यह आवश्यक है कि भूमि को बार–बार जोता जाए।[1]

खेत की मिटटी जहाँ उपजाऊ हो वहाँ वह पौष्टिक एवं स्वादिष्ट अन्न पैदा करने वाली भी हो इसलिये किसान लोग विद्या के अनुकूल घी, मीठा और जल आदि से संस्कार की हुई खेत की भूमि को अन्न को सिद्ध करने वाली करे। इस प्रकार भूमि को संस्कारित करते हुए सुगन्धि युक्त बीज बोकर स्वादिष्ट और पौष्टिक अन्न पैदा करें।[2]

---

1. चर्कृष– ऋ.द.भा. 1.23.15, 1.160.5, 4.57.7.
2. घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैदेर्वरनुमता मरुद्भिः।
   ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व।
   यजु.द.भा. 12.70. अथर्व. 3.17.9.

खेतों में मन्दी खाद अर्थात् विष्टा आदि मलीन पदार्थ नहीं डाले अपितु सदैव उत्तम खाद का ही प्रयोग करें जिससे अन्न, फल, रोग रहित उत्पन्न हो।[1]

महर्षि ने वेदमन्त्रों के माध्यम से भूमि को संस्कारित करने विषयक जो उक्त विचार प्रस्तुत किये हैं हो सकता है कि वे पढ़ने में हमें अनहोने और अव्यवहारिक लगें। क्योंकि आज दूध, घी, मीठा, मधु आदि उत्तम पवित्र, सात्विक एवं पौष्टिक पदार्थ खाने को नहीं मिलते तो इनका खेत की मिट्टी को संस्कारित करने अथवा उत्तम उर्वरा बनाने तथा सात्विक स्वादिष्ट एवं पौष्टिक अन्न पैदा करने के लिए खाद के साथ प्रयोग करना कैसे सम्भव है? किन्तु पौष्टिक अन्न उत्पादित करने के लिए ये सब आवश्यक हैं।

दूध, घी आदि पदार्थ पशुओं से प्राप्त होते हैं। अतः गाय, भैंस, बकरी आदि पशुओं का महत्त्व अपने आप बढ़ जाता है। यही कारण है कि महर्षि ने अपने जीवन में गोवध (पशुवध) रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया था।

महर्षि दयानन्द खेती करने के निम्न साधनों और औजारों की चर्चा भी विभिन्न वेद मन्त्रों के भाष्य में करते हैं।

हल[2]

लोहे का फाल (सीता)[3]

बैल (पशु)[4]

बीज[5]

---

1. यजु. द. भा. 12.69.
2. ऋ. द. भा. 4.57.4,8 यजु. द.भा. 12.68, 71,67. इत्यादि।
3. वही– 4.57.6 अथर्व. 3.17.2.
4. वही– 4.57.4., 1,1.121.7 अथर्व. 3.17.5.6.
5. वही– 4.57.4., यजु द.भा. 12.68.71.

उर्वरा भूमि आदि।[1]

2. सिचाई के साधन :–

ऋग्वेद भाष्य में कुल्याइव शब्द आया है जो खेती में नहर आदि से सिंचाई करने को प्रकट करता है।[2] कुएं और बरसात के पानी से भी सिंचाई की चर्चा है।[3]

मनुष्यों (किसानों) को चाहिए कि नदियों के मार्गों, बम्बों, कूपों, जलप्राय देशों, बड़े छोटे तालाबों के जल को चला जहाँ जहाँ बांध को बनाकर और खेत आदि की सिंचाई कर प्रचुर अन्न, फल, वृक्ष, लता, गुल्म आदि को उत्पन्न कर बढावे।[4]

मन्त्र के इस भावार्थ पर गम्भीर विचार करने पर यह प्रकट होगा कि ऋषि वर्तमान कृषि विज्ञान के समान सिंचाई के साधनों में यान्त्रिक और अयन्त्रिक दोनों साधनों का प्रयोग चाहते थे।

3. प्रशिक्षित किसान :–

भूमि, हल, बैल, बीज, खाद एवं सिंचाई के साधनों की उपलब्धि के बाद खेती करने के लिए किसान का प्रशिक्षित होना भी आवश्यक मानते थे। वे लिखते हैं– खेती करने वाले जन प्रथम खेती करने की विद्या को ग्रहण करके पश्चात् यथायोग्य खेती कर धन–धान्यादि से सदा युक्त हों।[1]

---

1. ऋ.द.भा. 1.23.15., 1.160.5, 4.57.8. यजु.द.भा. 12.70.71.
2. वही– 3.85.3.
3. वही 1.88.3,4, 1.30.1., 1.85.11, 5.32.2. अथर्व. 3.17.7.
4. यजु. द. भा. 16.37,38., ऋ.द.भा. 1.121.8.
5. ऋ.द.भा. 4.57.5.

जो लोक कृषि कर्म करने वाले हैं वे अपने से अधिक प्रशिक्षित किसान का अनुसरण करके खेती करें तो अधिक अच्छी तरह खेती की जा सकती है।[1]

खेती करने वाले किसानों को सदा उत्साहित करते रहना चाहिए, उनका शोषण नहीं होना चाहिये क्योंकि पीछे लिखा जा चुका है कि किसान राजाओं का राजा है। किसानों को समय समय पर पुरस्कार आदि से भी सम्मानित करते रहना चाहिए जिससे वे उत्साहित होकर खेती करें। महर्षि के शब्दों में खेती करने वाले जनों की उत्तम प्रकार रक्षा उन्हें सदा उत्साह युक्त करो।[2]

जो जन खेती करने वालों की अच्छे प्रकार रक्षा करके अन्न आदि ऐश्वर्य की उन्नति करते हैंवे मनुष्यों में शिरोमणि अर्थात् अत्यन्त उत्तम होते हैं।[3]

कृषि और राज्य :–

महर्षि दयानन्द अपने प्रचार के अन्तिम वर्षो मे राजस्थान के राजाओं में जहाँ प्राचीन आर्यधर्म और संस्कृति की पुनर्स्थापना के लिए प्रयत्न करते रहे, वहाँ उन्होंने राजाओं को प्रजाओं सहित आर्थिक समृद्धि प्राप्त करने के लिये भी प्रेरित किया। राजाओं के कर्त्तव्यों के प्रति किये उनके उपदेशों का ही यह फल था कि शाहपुरा एवं जोधपुर आदि के राजाओं ने अपनी प्रजा की भलाई के लिए अपने राज्य में अनेक आर्थिक सुधार भी किये इनमें खेती विषयक सुधार भी एक था।

---

1. ऋ.द.भा. 4.57.7.
2. वही– 4.57.2.
3. पूर्वामनु प्रयतिमा ददे वस्त्रीन युक्ता अष्टावरिधायसो गाः।
   सुवन्धवोयेविश्वा इषव्रा अनस्वन्तः श्रव ऐषन्त प्रजाः।।
   ऋ.द.भा. 1.126.5

महर्षि दयानन्द से ही प्रेरणा लेकर शाहपुरा नरेश ने खेती की सिंचाई के लिए नहर की व्यवस्था की।[1] महर्षि सिंचाई के साधन विषयक राज्य का कर्त्तव्य दर्शाते हुए लिखते हैं– सर्वत्र नहर आदि के द्वारा जल पहुँचाना राजा का कार्य है।[2]

4. खेती की फसल को हानि पहुँचाने पर नियन्त्रण–

महर्षि दयानन्द ने खेती की पैदावार फसल, अनाज आदि को खाने वाले, हानि पहुँचाने वाले अथवा नष्ट करने वाले चूहे, कौवे, टिड्डी, शूकर एवं स्याही आदि पशु को मारने के लिये राज्य का कर्त्तव्य दर्शाय है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द खेती को एक साधारण कर्म नहीं मानते थे कि जहाँ तहाँ, जैसे–तैसे खेत को जोत दिया या नहीं जोता, बीज बो दिया और जैसी फसल हुई वैसी काट ली। अपितु वे खेती को बहुत ही उत्तम और महत्त्वपूर्ण कर्म मानते थे और बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से इसे सम्पन्न करने के समर्थक थे। वे पहिले किसानों को खेती करने का पूर्ण प्रशिक्षण कृषि विज्ञान सिद्ध विद्वानों से दिलाना चाहते थे। किसानों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना तथा स्थान–स्थान पर प्रशिक्षण संस्थान स्थापित करना उनकी दृष्टि में राज्य का कर्त्तव्य है।[4] उनके मत में किसानों को खेती करने का प्रशिक्षण लेकर खेती विषयक निम्न मुख्य–मुख्य जानकारी प्राप्त करना चाहिए।

भूमि एवं मिट्टी के किस्मों का पूर्ण ज्ञान मिट्टी को संस्कारित अर्थात् खेती योग्य बनाने की विद्या का ज्ञान।

---

1. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ. 688–689. ऋ.द.भा. 1.126.5.
2. यजु. द.भा. 33.88.
3. वही– 13.51. अथर्व. 6.50.1,2,3.
4. ऋ.द.भा. 1.117.7.

- वर्षा आदि ऋतुओं का ज्ञान।
- खेतिहर औजारों के रख–रखाव एवं प्रयोग करने का ज्ञान।
- गाय, बैल आदि पशुओं का पालन एवं उनके रोगों आदि के इलाज का ज्ञान।
- फसलों में लगे कीड़ों, उनसे लगे रोगों आदि को नष्ट करने अथवा इलाज आदि करने का पूर्ण ज्ञान।
- जो अनाज उत्पन्न हो उनको सम्हालकर रखने का ज्ञान अर्थात् गोदाम व्यवस्था
- सिंचाई के साधनों का ज्ञान।

पशु–पालन :–

पशुपालन की आवश्यकता और कुल उतपादन में उसका महत्त्व :–

खेती के बाद उत्पादन का दूसरा क्षेत्र है– पशुपालन। पशुओं से दूध, घी पनीर इत्यादि मिलता है। मलमूत्र में खाद तैयार होता है जो खेती की पैदावार बढ़ाने के काम में आती है। बालों से ऊन आदि तैयार होकर कपड़े और कम्बल आदि बनते हैं। जैसे भारत एक कृषि प्रधान देश है वैसे भारत एक पशुपालन प्रधान देश भी है।

पशु पालन और महर्षि दयानन्द :–

महर्षि दयानन्द गौ आदि पशुओं का वध रूकवाना भारतीय भारतीय अर्थ व्यवस्था के लिये अनिवार्य मानते थे। गौ आदि पशुओं की सुरक्षा को वे विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से देखते थे। महर्षि दयानन्द का यह दृढ़ मत था कि जब तक पशुओं की रक्षा नहीं होगी तब तक न भारत की कृषि व्यवस्था ओर न सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की सुदृढ़ हो सकती है। अतः पशुओं का वध रूकवाकर पशुपालन को बढ़ावा मिलना चाहिए।

जो मनुष्य पशुओं की रक्षा और बढ़ने आदि के लिए वनों को रख उन्हीं में उन पशुओं को चरा, दूध आदि का सेवन कर खेती आदि कामों को यथावत् करे वे राज्य के ऐश्वर्य से सूर्य के समान प्रकाशमान होते हैं।[1]

---

1. ऋ.द.भा. 1.121.7.

उन गौ आदि पशुओं की खूब वृद्धि[1] करे तो दूध आदि से सबका उपकार करते हैं।[2]

देखो! जब आर्यों का राज्य था तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। दूध, घी, बैल, आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे।[3]

गौ आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है।[4]

गाय बकरी के दूध, घी आदि एवं बकरा, बैल, भैंसा आदि का खेती में अन्न उत्पन्न करने के लाभ को गणित द्वारा दिखाते हुए लिखते हैं– पशु की सुरक्षा से अधिक लाभ हैं बजाय उनको मार कर चर्बी, चमड़ा और हड्डी प्राप्त करने के।[5]

बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं और बकरा–बकरी और भेड़ भैंडी के ऊन से वस्त्र कम्बल बनते हैं।[6] उसी प्रकार अन्य अनेक प्रकार के पशु–पक्षी से मनुष्य को अनेक उपकार होते हैं।[7] इस प्रकार गोकरुणानिधि में महर्षि ने गौ आदि

---

1. साठ हजार घोड़ी दस हजार ऊँट हजार भेड़ी, एक हजार गधी और दश हजार गौएं हों। इस प्रकार पशु धन की वृद्धि की जाए। ऋ. 8.46.22.
2. यजु. द.भा. 16.16.
3. सं.प्र. दशम समु. पृ. 252.
4. गोक... (ल.ग्र.सं.) पृ. 405–406.
5. गोक.... पृ. 401–404.
6. वही– पृ. 404.
7. ऊंट ऊंटनी, घोड़ा घोड़ी हाथी सुअर, कुत्ता, मुर्गा–मुर्गी, और मोर आदि पशु–पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। वही– पृ. 404.

पशुओं के वध का विरोध और संरक्षण का समर्थन केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं किया अपितु उनका आर्थिक आधार भी स्पष्ट किया है।[1] आर्थिक महत्त्व की दृष्टि से महर्षि ने गौआदि पशुओं से होने वाले विस्तृत लाभ भी दर्शाये हैं जो राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि के लिए अति महत्त्वपूर्ण है।[2]

पशु पालन विषयक इस विचार क्रम में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य यह है कि महर्षि दयानन्द ने पशु पालन पर केवल इसलिए बल दिया है कि इन पशुओं से दूध आदि एवं खेती आदि में सहयोग करने से मनुष्यों को उत्पादन करने में बड़ा सहयोग मिलता है। परन्तु मांस की दृष्टि से पशु पालन को उन्होंने घृणास्पद और पापकर्म बताया है।[3]

महर्षि दयानन्द का सोचने और करने का अपना दृष्टिकोण था वे पशु पालन का समर्थन ही नहीं करते, अपितु, उसमें आने वाली समस्याओं एवं उनके समाधानों का उल्लेख भी करते हैं। पशुपालन की सबसे बड़ी समस्या है चारागाह की। वे लिखते हैं– आर्यावर्तीय राजा महाराजा, प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर औषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों। जिनके खाने-पीने से आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि सदगुण बढ़े और वृक्षों के अधिक होने से वर्षा, जल और वायु में आर्द्रता और शुद्धि अधिक होती है। पशुपक्षी आदि के अधिक होने से खाद भी अधिक होता है।[1] इस लिए पशुपालन के लिए जंगलों की सुरक्षा होना चाहिए।

---

1. गोकरुणानिधि– पृ. 401–404.
2. वही– पृ. 424.
3. वही– पृ. 404–405.
1. वही– पृ. 413.

महर्षि दयानन्द ने पशु पालन के लिए अपने ग्रन्थों में अपने विचार लिखकर ही इतिश्री नहीं की अपितु उन्होंने अपने जीवन में इस विषयक भारी क्रियात्मक प्रयास भी किया था। इस विषय में उनके द्वारा पशुओं की रक्षा के लिये दिये गये सार्वजनिक व्याख्यानों की गई गोष्ठियों ब्रिटिश शासन के अधिकारियों से भेंट[1] तथा किये गये पत्र–व्यवहार एवं विज्ञापन की चर्चा की जा सकती है।[2] इसमें गोवध पाबन्धी के लिये दो करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर युक्त महारानी विक्टोरिया को दिया जाने वाला प्रार्थनापत्र भी सम्मिलित था। इतना ही नहीं उन्होंने गोकृष्यादिरक्षिणी सभा का गठन कर लोगों को प्रेरित किया कि वे स्थान स्थान पर गोशालाओं की स्थापना कर गो आदि पशुओं का पालन करें।[4]

पशु पालन और राज्य :–

महर्षि दयानन्द ने पशुओं का वध रूकवाने में और उनके पालन–पोषण की व्यवस्था करने–कराने में राज्य का उत्तरदायित्व सर्वप्रथम और सबसे अधिक बताया है। वे गोरक्षा विषयक कानून बनाने के पक्ष में भी थे।[4] वे इस विषयक राज्य का कर्त्तव्य दर्शाते हुए लिखते हैं– जिन भेड़ आदि के रोम और त्वचा मनुष्यों के सुख के लिए होती है और जो ऊंट भार उठाते हुए मनुष्यों को सुख देते हैं उनकी जो दुष्ट जन मारना चाहे उनको संसार के दुःख दायी समझो और उनको अच्छे प्रकार दण्ड दे दो।[5]

---

1. नवजागरण के पुरोधा, द.स. पृ. 73, 164,371,416, 420,453, 485.
2. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ. 535, 537, 538, 540, 541, 543. 599, 602, 602, 603, 606, 607, 648, 748 इत्यादि।
3. गोकरुणानिधि (ल.ग्र.सं.) पृ. 416–426.
4. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ. 537–539.
5. यजु. द.भा. 13.47–52.

कोई भी मनुष्य उपकार करने हारे पशुओं को कभी न मारे। और इनकी अच्छे प्रकार रक्षा करे, इनसे उपकार लेवे, जिन जंगली पशुओं से ग्राम के पशु, खेती और मनुष्यों की हानि हो उनको राजपुरुष मारे और बन्धन करें।[1]

राजा प्रजा के गाय आदि जो पशु हैं उनका नाश न होने दें।[2] राजपुरुषों को चाहिए कि गौ, घोड़े आदि उपकारी जीवों की कभी हत्या न करे। अपितु सदैव वृद्धि करे।[3]

राजा को पाकर ही पशुओं के दूध आदि पदार्थों से पुष्ट होते हैं।[4] इस प्रकार महर्षि दयानन्द की दृष्टि में राज्य का यह परम कर्त्तव्य है कि वह पशुओं की सुरक्षा का पशु पालन में सहयोग करें।

देश के पशु धन के संरक्षण के प्रति राज्य को अपने कर्त्तव्यों की ओर जागरूक करते हुए महर्षि दयानन्द ने तत्कालीन जयपुर राज्य के अधिकारी को यह भी परामर्श दिया था कि मनुष्यों की गणना की भांति पशुओं की गणना भी होना चाहिए और उनके आंकड़े रखने चाहिए।[5] ताकि उनकी घटत बढ़त पर विचार कर उनकी वृद्धि के प्रयत्न किये जा सकें।

---

1. इमं मा हि सीर्द्विपादं पशुं सहस्त्राक्षो मेधाय चीयमानः।
   मयु पशु मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
   मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ।।
   यजु. द. भा. 13.47.
2. गोक. पृ. 415.
3. नो गोषु मा नोऽअश्वेषु रीरिषः। यजु.द.भा. 16.16.
4. वही, 21.42.
5. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृ. 558.
   महा. वन.प. 239.4.

वन सम्पदा–

वन सम्पदा की आवश्यकता, कुल उत्पादन में उसका महत्त्व और लाभ :–

वन सम्पदा उत्पादन का तीसरा क्षेत्र आता है। खेती, पशु पालन और वन सम्पदा का अन्योन्याश्रम सम्बन्ध है। पशु पालन के लिए धास,चारा आदि की प्राप्ति वनों से ही होती है और खेती आदि के लिए पशु आवश्यक हैं।

कुल उत्पादन में लकड़ी आदि का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि लोहा आदि धातुओं का। लकड़ी वनों से ही प्राप्त होती है। उद्योगों का सम्पूर्ण कच्चा माल या तो वनों से या पर्वतों (खनिज) से प्राप्त होता है। अतः कुल उत्पादन में वनों का भी महत्त्व है।

वन में स्थित वनस्पत्तियों से 85 प्रतिशत भोज्य पदार्थ सीधे प्राप्त हो जाते हैं। घास, चारा, लकड़ियां, रेशो, औषधयां, रबड़, रंग, गोंद, लाख, राल, कन्द, मूल फल आदि वनों से प्राप्त होते हैं।

जलवायु को नम व सम बनाना, वर्षा को आकर्षित करना, बाढ़ पर नियन्त्रण करना, भूमि कटाव को रोकना, मरूस्थल के प्रसार को रोकना आंधी तूफान के वेग को कम करना, वनस्पति अंश द्वारा मिट्टी को उपजाऊ बनाना, भूमिगत जल स्तर को ऊँचा उठाना एवं पर्यावरण प्रदूषण को नियन्त्रित रखना इत्यादि लाभ वनों से होते हैं जो कुल उतपादन के लाभांश को अत्यधिक बढ़ाते हैं। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने कहा कि प्राचीनकाल में आधी भूमि में जंगल रखते थे परन्तु जंगलों को कटवा रहे है जा सब उल्टे काम हैं।[1]

---

1. गोकरुणानिधि– पृ. 413–414.

वन सम्पदा की सुरक्षा कर उसे बढ़ाओ :–

इस विषय में महर्षि लिखते हैं– जो वनादि की रक्षा से घास–फूस और औषधियों को बढ़ाते हैं वे सबका उपकार करने वाले होते हैं।[1]

हे (वनस्पति) वनस्पति के समान वर्तमान परोपकारी सज्जन[2] अर्थात् वन की रक्षा करने वाला महान् परोपकारी होता है या वन की रक्षा करना महान् परोपकार है। क्योंकि वन हमें जीवनी शक्ति देता है।

वन सम्पदा की सुरक्षा में राज्य का कर्त्तव्य–

महर्षि वन– सम्पदा के प्रति राज्य का कर्त्तव्य दर्शाते हुए कहते हैं– वह सम्पदा का संरक्षण कर राज्य को बढ़ावे।[3] वन के पालक को देव अथवा राजा कहा है।[4] वनों की सुरक्षा करने कराने और वनस्पतियों के लाभ को प्राप्त करने का कर्त्तव्य राज्य का है।[5] क्योंकि वनों पर राज्य का अधिकार है अर्थात् यह सामाजिक सम्पत्ति है। राजा इसका दुरुपयोग न होने दें।

वनों की सुरक्षा करने वालों का सत्कार–

वन सम्पदा इतनी महत्वपूर्ण है कि इसका संरक्षण करने वाले सत्कार के अधिकारी हैं। महर्षि का लेख इस प्रकार है– जंगलों के पालक को अन्न दें।[6] मनुष्य,

---

1. उपत्मन्या वनस्पते पाथो देवेभ्यः सृज।
   अग्निर्हव्यानि सिष्वदत्त।।
   ऋ.द.भा. 1.118.10.
2. वही– 3.8.11.
3. यजु. द.भा. 16.20.
4. ऋ.द.भा. 3.53.20., 5.5.10.
5. ऋ.द.भा. 3.34.10.
6. वनानां पतये नमः। यजु.द.भा. 16.18.

वन आदि के पालकों को अन्न देकर वृक्ष तथा औषधी आदि की उन्नति करे।[1] वन सम्पदा के संरक्षकों का अन्न आदि से सत्कार करें।[2]

पर्वत सम्पदा (खनिज)

पर्वत सम्पदा की आवश्यकता और कुल उत्पादन में उसका महत्त्व :–

चौथा क्षेत्र उत्पादन का पर्वत (खनिज) सम्पदा है। सम्पूर्ण खनिज पदार्थ प्रायः पर्वत या पर्वतों की तलहटी में पाये जाते हैं। विना खनिज पदार्थों के उद्योगों का काम–काज नहीं चल सकता है। अतः कुल उत्पादन मे पर्वतसम्पदा का भी अपना महत्त्व है।

पर्वतों से लाभ :–

पर्वतों से होने वाले लाभों के बारे महर्षि लिखते हैं– पर्वत हमें धन दें अथवा हमारे धन की सुरक्षा करें।[3]

हे राजन्! जैसे पर्वत के ऊपर वर्तमान जल शीघ्र आकर जलाशय को प्राप्त होता है।[4] अर्थात् पर्वतों पर जो वर्षा होती है और उसका पानी तेजी से बहकर नीचे की ओर आता है या तो वह जल सीधे किसी जलाशय में चला जाता है, यदि कोई ऐसा जलाशय नहीं है तो वह जल व्यर्थ जाएगा। अतः कृत्तिम जलाशय बनाकर इस जल को एकत्र किया जाना चाहिए, ताकि पीने और खेती आदि के काम आ सके।

---

1. यजु. द.भा. –16.19.
2. अख्यानां पतये नमः। वही– 16.20.
3. तन्नो रासः पर्वतास्तन्त्र

   ऋ.द.भा. 7.34.23.
4. वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठात्–

   ऋ.द.भा. 6.24.6.

पर्वतों पर नाना प्रकार की औषधियां उत्पन्न होती हैं।[1] पर्वतों से स्वर्ण आदि धातु रत्न प्राप्त होते हैं।[2] अर्थात् सभी प्रकार के खनिज, संगमर–मर का पत्थर, चूने का पत्थर तथा अन्य पत्थर इत्यादि पर्वतों से प्राप्त होते हैं। पर्वतों पर स्थित जंगलों से लकड़ियां आदि भी प्राप्त होती हैं।[3]

पर्वतों से ही नदियां और झरने निकलते हैं।[4] पर्वत वर्षा में सहायक होते हैं।[5] इस प्रकार जंगल के समान पर्वत भी मानव जीवन की अनेक आर्थिक इत्यादि आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं।

पर्वतों की सुरक्षा और राज्य :–

राजा का कर्त्तव्य है कि वह पर्वतों की सुरक्षा करे उनका दुरुपयोग न होने दे क्योंकि पर्वत भी राजकीय सम्पत्ति है। महर्षि दयानन्द इस विषयक लिखते हैं। राजा पर्वतों की सुरक्षा करे।[6] राजा पर्वतों पर रहने वाला कहा गया है।[7]

अतः हम कह सकते हैं कि महर्षि दयानन्द के उत्पादन विषयक विचार प्राचीन अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं। प्राचीन अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों में पशुपालन का समुचित महत्त्व प्रतिपादित कर एक प्रकार से उसे अर्थ–व्यवस्था की धुरी ही मान लिया था। परन्तु महर्षि दयानन्द ने वैश्य वर्ण के गुण, कर्म इत्यादि की व्याख्या करते हुए

---

1. पर्वतेषु भेषजम्– ऋ.द.भा. 8.20.25.
2. गिरेः दत्राणि ऋ.8.49.2 (दत्राणि का निघ. 1.2 में स्वर्ण–रत्नादि अर्थ लिया गया है।)
3. वे. के राज. सिद्धा. भाग–1, पृ. 501.
4. पर्वतस्येव धारा– ऋ.3.57.6 उद्धृत वे. के. राज सिद्धा. भाग–1, पृ. 501.
5. वृषणः पर्वतासः– ऋ.द.भा. 3.54.20.
6. कुचरोगिरिष्ठाः यजु.द.भा. 18.71.
7. पर्वतेष्ठाम– ऋ.6.22.2. उद्धृत वे. के राज. सिद्धान्त, भाग–पृ. 503.

कृषि, पशुपालन, वनसम्पदा, पर्वत सम्पदा इत्यादि के महत्त्व का प्रतिपादन भी किया है। उनके उपर्युक्त सम्पूर्ण विचारों का अध्ययन करते समय एक तथ्य यह भी भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित उत्पादन के क्षेत्रों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण ही नहीं अपितु एक प्रकार से स्वामित्व है।

6.4 उद्योग धन्धे, कलाकौशल एवं शिल्प :–

यद्यपि महर्षि दयानन्द पशुपालन और खेती को भारतीय अर्थ व्यवस्था की धुरी मानते थे तथापि सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था के लिए वे खेती और पशुपालन को ही पर्याप्त नहीं मानते थे अपितु वे अपने ग्रन्थों एवं प्रवचनों में कलाकौशल, शिल्प, विज्ञान और कारखानों का महत्त्व भी उजागर करते हैं। इस तथ्य से वे भली भांति परिचित थे कि प्राचीन भारत जहाँ वैज्ञानिक ढंग से खेती करने और पशुपालन में अग्रणी था, वह जंगलों और पर्वतों की सुरक्षा कर लाभ लेता था वहाँ शिल्प कला–विज्ञान–उद्योग व्यवसाय से भी पूर्णतया समृद्ध था। अपने ग्रन्थों में महर्षि ने प्राचीन भारत में शिल्प, कला–कौशल उद्योग धन्धों की उन्नति और समृद्धि की पदे–पदे प्रशंसा की है।

शिल्प शिक्षा :–

अर्थवेद जिसको शिल्प विद्या कहते हैं– उसको पदार्थ का निर्माण पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीख के अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है उस विद्या को सीख के दो वर्ष में ज्योतिष, सूर्य–सिद्धान्तादि जिसमें बीज गणित, अंक, भूगोल–खगोल और भूगर्भ विद्या है उसको यथावत् सीखें।[1] तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यन्त्रकला आदि को सीखें।[2]

---

1. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु. पृ. 65.
2. वही– पृ. 65.

तत्पश्चात् अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्प शास्त्र कहते हैं, जिसमें विश्वकर्मा, त्वष्टा एवं मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं। उनका छः वर्ष के भीतर पढ़के विमान, तार एवं भूगर्भादि की विद्याओं को साक्षात् करें।[1]

इस महागम्भीर शिल्प विद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, परन्तु जो महाविज्ञान हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वे सिद्ध कर सकते हैं।[2] जो कारीगर होवें वे जितनी शिल्प विद्या जाने उतनी सब दूसरों के लिए शिक्षा करे जिससे उत्तर–उत्तर विद्या की सन्तति बढ़ें।[3]

शिल्प शिक्षा की उन्नति करने वाले जो उसके पढ़ने–पढ़ाने वाले विद्वान् हैं, सबके सुख के लिए नित्य प्रकाशित करें जिससे हम लोग ईश्वर की सृष्टि के पवन आदि पदार्थों से अनेक प्रकार उपकार लेकर सुखी हों।[4]

मनुष्य किसी कुशल कारीगर के पास बैठकर ही कारीगरी में कुशल हो सकते हैं।[5] पुरुषों के साथ–साथ स्त्रियों को भी शिल्प शिक्षा मिलना चाहिए।[5] अध्यापक शिल्प–शिक्षा का सिद्धान्त और प्रयोग दोनों सिखलावें।[6]

---

1. सं.वि. वेदा पृ. 133.
2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, नौ विमानादि विषय, पृ. 153.
3. यजुर्वेद दयानन्द भाष्य, भावार्थ 29.32.
4. ऋग्वेद दयानन्द भाष्य, भावार्थ, 1.89.4.
5. उत त्यं चगसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्।
   अकर्त्त चतुरः पुनः। वही 1.20.6.
6. विद्युद्रथा मरुत ऋषि मन्तो दिवो मर्यात्रतजाता अयासः।
   सरस्वती ऋणवन्यज्ञियासोधातारपिसहवीरं तुरासः।।
   वही 3.54.13.

शिल्प अथवा औद्योगिक शिक्षा में भूगर्भ विज्ञान का स्थान :–

महर्षि दयानन्द ने अपने द्वारा प्रतिपादित शिक्षा–पाठ्यक्रम में भूगर्भ विद्या सीखने की चर्चा की है।[1] इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए लिखते हैं– मनुष्यों को चाहिए कि भूगर्भ विद्यानुसार वालू मिट्टी आदि से सुवर्णादि धातुओं को निकाल कर बहुत ऐश्वर्य को बढ़ाके अनाथों का पालन करें।[2] उसी प्रकार अच्छे खोदने के साधनों से पृथिवी (खदान) को खाद और अग्नि में गलाकर शुद्ध कर स्वर्ण आदि धातुओं को तैयार करें।[3]

सम्पूर्ण उद्योग स्वर्ण चाँदी, ताँबा, लोहा आदि धातुओं पर आधारित होते हैं।[4] अतः उत्पादन के लिए भूगर्भ विद्या अथवा खनन विज्ञान आवश्यक विषय है।

शिल्प का अर्थ :–

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में अथवा स्वरचित ग्रन्थों में जहाँ उद्योग–व्यवसाय इत्यादि की चर्चा की है वहाँ सर्वत्र शिल्प शब्द का प्रयोग किया है।

समाधी अर्थ वाली शील धातु से शिल्प शब्द बनता है।[5] समाधि का अर्थ है– किन्हीं पदार्थों का परस्पर योग करना, सम्मिश्रण करना अथवा मिलाना इसलिये शिल्प का धात्वर्थ हुआ– वह कर्म जो कि विभिन्न पदार्थों को मिलाकर एक नवीन पदार्थ बना देता है। शिल्प का दूसरा अर्थ कौशल बताया गया है। कौशल चतुराई के अर्थ में आता है। वे कर्म जिनके द्वारा कोई वस्तु निर्माण करने में चतुर बुद्धि की आवश्यकता पडे शिल्प के और भी अर्थ है परन्तु हमें विस्तार में जाने की जरूरत नहीं है यदि इन दोनों अर्थों को मिलाकर देखें तो शिल्प आज के इण्डस्ट्री अथवा तकनीकी कला के अर्थ में

---

1. वही, 1.116.7.
2. स.प्र. तृ. समु. पृ. 65.
3. सिकत्याय– यजु 11.10. दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
4. वही 18.13.

सिद्ध होगा।[1]

कौशल :–

संसार का कोई भी व्यक्ति सब काम स्वयं नहीं कर सकता। क्योंकि उसकी बुद्धि और शक्ति सीमित होती है अतः उसके लिए सब प्रकार के कार्यों में कौशल प्राप्त करना असम्भव है। इस लिये व्यक्ति को किसी एक काम में ही कौशल या पारंगतता प्राप्त करना चाहिए फिर बिना किसी एक काम में कौशल प्राप्त किये कोई फल पूर्ण सन्तोष नहीं दे सकता।

दूसरी बात यह है कि अज्ञान, अन्याय और अभाव भी अनेक प्रकार के होते हैं उनकी पृथक्–पृथक् कई धाराएं और विभाग हैं और उनको नष्ट करने की भी पृथक्–पृथक् अनेक विद्याएं हैं– उनको पृथक्–पृथक् सीखकर अथवा कौशल प्राप्त कर सम्पूर्ण प्रकार का अज्ञान, अन्याय और अभाव मिटाया जा सकता है।

आश्रम व्यवस्था इस कौशल को प्राप्त कराती है। आश्रम व्यवस्था 25 वर्ष तक अज्ञान, अन्याय और अभाव में किसी एक धारा का पृथक्–पृथक् गुरुकुल में अध्ययन कराकर पूर्ण कौशल प्राप्त कराती है।

इस प्रकार समाज के सभी ब्राह्मण मिलकर सम्पूर्ण प्रकार के अज्ञान को, सभी क्षत्रिय मिलकर सम्पूर्ण प्रकार के अन्याय को और सभी वैश्य, मिलकर सम्पूर्ण प्रकार के अभाव को मिटा देंगे। अतः वर्णाश्रम–व्यवस्था में कौशल ऐसा तत्त्व है जो निरन्तर व्यक्ति और समाज का आर्थिक कल्याण करता रहेगा, और वर्णों के अलग–अलग कौशल मिलाकर समाज अथवा राष्ट्र का सम्पूर्ण अज्ञान, अन्याय एवं अभाव मिटाने में सफल होंगे।

---

1. संस्कृत धातु कोषः, पृ 121.

विमानादि का निर्माण :–

विमानादि निर्माण विषयक कतिपय वेदमन्त्रों का दयानन्दीय संस्कृत भाष्य इस प्रकार है :–

1. विभूतिकामैर्नरै रथस्यादि मध्यान्तेषु सर्पकलाबन्धनाधाराय त्रयो बन्धन विशेषाः कर्त्तव्याः। एकं मनुष्याणां स्थित्यर्थं द्वितीयमग्निस्थितत्यर्थं तृतीयं जलस्थित्यर्थं च कृत्वा यदा यदा गमनेच्छा भवेतदा तदा यथायोग्यं काष्ठानि संस्थाप्यग्निं योजयित्वा कलायन्त्रोद् भावितेन वायुना संदीप्य वाष्पवेगेन चालितेन यानेनसव्यो दूरमपिस्थानं समीपवत्प्राप्तं शक्नुयुः नहीद्दृशेन यानेन बिना कश्चिन्निर्विघ्नतया स्थानातारं संद्यो गंतु शक्नोतीति।[1]
2. भूमिसमुद्रान्त रिक्षगमनं चिकीर्षुमिर्भनुष्यैस्त्रिचक्राग्न्यागारस्तम्भ युक्तानिः विमानादीनियानानानि.....

   .....सिद्धये विशिष्टाः प्रयन्नाः कार्या इति।[2]
3. ये विमानादियानकार्य्येष्वग्न्यादिपदार्थान् संप्रयोजयन्ति ते यावता त्रिभिः..... जायन्ते तेषां सत्कारः सर्वे कुर्वन्तीति।[3]
4. यदा मनुष्य ईदृशेषु स्थित्वा चालयन्ति तदा.....

   ..... भागिनो भवन्तीति।[4]

---

1. ऋ.द. संस्कृत भाष्य, 1.34.9.
2. त्रयः पवयो मधु वाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः।
   त्रयाः स्कम्भासः स्कभि तासः आरभे त्रिनक्तं यार्थस्त्रिर्वश्विनादिवा।
   ऋ.द. संस्कृत भाष्य 1.34.2.
3. वही– 5.36.6.
4. वही 1.34.11.

5. (द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां.....
..... न हि सर्वे ।[1]

महर्षि का वेद से नौ विमानादि की शिल्प विद्या अर्थात् प्रयोगिक तकनीकी ज्ञान को सिद्ध करना देश की आर्थिक व्यवस्था को पुनः उन्नत बनाने की ओर एक प्रभावशाली वैचारिक कदम था ताकि परतन्त्र भारत में रहने वाले भारतीय इनसे प्रेरणा प्राप्त कर देश को स्वतन्त्र कराएं और स्वदेशी राज्य की स्थापना कर देश की आर्थिक दशा को पुनः प्राचीन भारत के समान समृद्धवान् बनाएं। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने तार नौ विमानादि एवं गणित विद्या आदि के स्वतन्त्र अध्याय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में दिये हैं।

शिल्प कला और उद्योग के आधार :–

शिल्प विद्या की आधार भूत शक्तियाँ यथा जल, वायु, अग्नि, विद्युत, वाष्प, खनिज इत्यादि की महत्ता और उपयोगिता की ओर भी महर्षि दयानन्द ने ध्यान आकृष्ट किया।[2]

उद्योगों की स्थापना और उनकी उन्नति :–

कल–कारखानों की स्थापना करने एवं उनकी उन्नति करने के संकेत दयानन्द के वेद भाष्यादि ग्रन्थों में मिलते हैं।[3]

---

1. द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उतेच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चला चलासः।
ऋ. 1.164.48., उद्धृत ऋ.भा.भू. नौविमानादिविद्या विषय. पृ 152. (विमान आदि के बारे में विस्तार से जानने के लिए हिन्दी अनुवाद सहित ऋ.द.संस्कृत भाष्य एवं भरद्वाज के विमानशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।)
2. ऋ..द.भा. 1.64.1, 1.64.14, 1.13.3., 1.35.6., 1.13.10., 1.14.6, 3.9.9., 6.15.17, यजुर्वेद 11. 11, 29 दयानन्द भाष्य।
3. ऋ.द.भ. 7.16.6–10, व्यवहारभानु, पृ. 313 (द.लग्र.सं.)

महर्षि दयानन्द ने देश को आर्थिक दृष्टि से पूर्ण समृद्धवान् बनाने के लिए अपने समकालीन धनाढ्य व्यक्तियों को कल, कारखानों स्थापित करने की प्रेरणा दी जिससे राष्ट्र उन्नत हो।[1]

अंग्रेजों ने भारतीय वस्त्र उद्योग पर काफी कुठाराघात किया था। भारत में वस्त्र का कच्चा माल कपास आदि उत्पन्न होता था और उसका कपड़ा आदि लन्दन आदि से बनता था जिसमें भारतीय बुनकरों की आजीविका भारी जाकर उनके कला–कौशल की रक्षा नहीं हो पाती थी। इस पर चिन्ता प्रकट करते हुए महर्षि दयानन्द ने भारतवासियों को यह प्रेरणा दी कि हमें सदैव स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए ऐसा करने से हम अपने कारीगरों एवं उद्यमियों की आजीविका को बचा कर देश में अपने कला–कौशल का विस्तार कर सकेंगे।[2]

प्राचीन भारत के भौतिक विज्ञान और औद्योगिक समृद्धि की प्रशंसा करते हुए महर्षि दयानन्द ने सदैव भारतीयों को यह प्रेरणा देते थे कि वे नवीन प्रकार के कल कारखाने लगाकर अपने देश की औद्योगिक उन्नति कर आर्थिक समृद्ध प्राप्त करें।[3]

28 मई, 1882 को बम्बई में अन्तिम प्रवास में उन्होंने जो व्याख्यान दिया उसमें भी देशोन्नति की चर्चा करते हुए देश वासियों को पश्चिम के विज्ञान एवं कला–कौशल के नवीन आलोक को ग्रहण करने की प्रेरणा दी।[4]

महर्षि ने बम्बई में 13 फरवरी 1875 को 'भारतीय शिल्प विज्ञान की प्राचीनता' विषय पर एक भाषण देकर सबको चकित कर दिया था। भाषण में वायुयान की चर्चा

---

1. नव के पु.द. स. पृ. 127.
2. नव. के पु. द. स., पृ. 206.
3. वही पृ. 215.
4. वही– पृ. 451.

की थी एक अंग्रेज युवक ने इस पर आपत्ति की तो इस विज्ञान वेत्ता ऋषि ने अंग्रेज युवक से यह कहा कि यदि कोई राजा या धनाढ्य व्यक्ति पर्याप्त धन खर्च करे तो अनुसंधान कर प्राचीन शिल्प शास्त्रों के आधार पर विमान बनाया जा सकता है। यह बात उस समय की है जब वायु सेना के बारे में किसी ने सोचा भी नहीं था। सबसे पहले सन् 1908 में प्रसिद्ध फ्रांसीसि वैज्ञानिक श्री बलेरियों द्वारा वायुयान निर्मित किया गया था।[1] उस समय की स्थिति पर विचार कर हमें ये बातें आश्चर्य जनित लगें परन्तु यह सत्य है कि महर्षि दयानन्द उस विषयक कुछ कर गुजरने की उत्कृष्ट अभिलाषा रखते थे। परन्तु चाहते हुए भी वे ऐसा नहीं कर सके। क्योंकि उस समय देश और समाज में धार्मिक तथा सामाजिक आदि जैसी गम्भीर समस्याएं जड़ जमा चुकी थी, जो कि देश की आर्थिक व्यवस्था को पीछे ढ़केलने में अपनी प्रमुख भूमिकाएं निभा रही थी। इस प्रकार महर्षि दयानन्द को उनका हल करने में लगना पड़ा और अन्त तक उन्हीं में लगे रहे, फिर उनको कार्य करने का भी अधिक अवसर नहीं मिला–तब भी उन्होंने इस विषय में अपना प्रयास जारी रखा, और जर्मन के निवासी अपने मित्र डॉ0 जी वाईज एवं अन्य व्यक्तियों से पत्र–व्यवहार किया।

सारांश यह है कि 19वीं शताब्दी में जब कि हमारे देश के शिल्प–कला–कौशल नितान्त शैशव अवस्था में थे उस समय महर्षि दयानन्द सरस्वती का इन विषयों की ओर ध्यान आकृष्ट करना उनकी दूर दृष्टि का परिचायक है।

दयानन्दीय वेदभाष्य में विभिन्न शिल्प–शिल्पी एवं उद्योग धन्धे :–

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में निम्न उद्योग धन्धों की चर्चा की है, जिसका संक्षिप्त ब्यौरा हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :–

---

1. शिल्प कर्म और ऋषि दयानन्द, पृ. 94. उद्धृत्त–24 अक्तूबर सन् 1946 ई. के आर्य मित्र में स्वामी ज्ञानानन्द परिव्राजक का लेख, स्वामी दयानन्द और पाश्चात्य विद्वान्।

1. रथकार– रथ अथवा विमान आदि यान बनाने वाला।[1]

2. तक्षक : बढ़ई।[2]

3. कोलाल / कुलाल–कुम्हार / जुलाहा।[3]

4. धनुषकार– धनुष बनाने वाला।[4]

5. इषुकार– बाण बनाने वाला।[5]

6. ज्याकार– धनुष की प्रत्यंचा बनाने वाला।[6]

7. रज्जुसर्प– रस्सी बनाने वाला।[7]

8. शैलूष– नाटक करने वाला।[8]

9. मणिकार– मणियों की चीजें बनाने वाला (जौहरी)[9]

10. हिरण्यकार– स्वर्णकार।[10]

11 वीणापादक– वीणा बजाने वाला।[11]

12. तूणवध्म– तूण बजाने वाला।[12]

13. शंखध्म– शंख बजाने वाला।[13]

---

1. यजु. 30.6. 16..27. दयानन्दभाष्य, भावार्थ।
2. वही–30.6.
3. वही– 30.7., 16.27.
4. यजु. 30.7., 16.46. दयानन्द भाष्य
5. वही– 30.7., 16.46. ''
6 वही–30.7. ''
7 वही– 30.7 ''
8. वही– 30.6. ''
9. वही– 30.7. ''
10. वही– 30.17. ''
11. वही– 30.19. ''
12. वही– 30.19. ''
13. वही– 30.19. ''

14. वशनर्ती– नट।[1]

15. कर्मार– लोहार या बन्दूक, तोप आदि शस्त्र बनाने वाला।[2]

16. वस्त्र उद्योग।[3]

17. वायुयान, जहाज, नाव आदि उद्योग।[4]

उद्योग–धन्धे और राष्ट्र :–

महर्षि दयानन्द ने अपने वेदभाष्यादि में राष्ट्र को यह निर्देश दिया है कि उद्योग– धन्धों को उन्नत बनाने में अपना योगदान दें। वे लिखते हैं :–

हे राजन्! आप शूरवीर शिल्पी जनों की रक्षा करें।[5]

राजपुरुषों को चाहिए कि मन के समान वेग वाले बिजली आदि पदार्थों से युक्त अनेक प्रकार के रथ आदि यानों का निर्माण कर प्रजाजनों को सन्तोष देवें।[6]

जो शिल्पविद्या में निपुण होते हैं उनका यथायोग्य सत्कार राजा आदि को करना चाहिए।[7] हे इन्द्र! कृपा करके हम लोगों में उत्तम धन देने वाली सब शिल्प–विद्या के

---

1. वही– 30.21.
2. वही– 16.27.
3. ऋ.द.भा. 1.152.1
4. यजुर्वेद 4.9. दयानन्द भाष्य भावार्थ। ऋग्वेद 1.30.8.
5. एवा न इन्द्रोतिभिरवपाहि गृणतः शूर कुरून्
   उत त्वचं ददतो वाजसातौ पिप्रीहि मध्वः सुषुतस्य चारोः।
   ऋ.5.33.7. दयानन्द भाष्य।
6. ऋग्वेद 1.117.2., दयानन्द भाष्य, भावार्थ।
7. पुनाने तन्वा मिथः स्वेन दक्षेण राजथः।
   ऊह्याथेसनाद्दृतम्।
   वही– 4.56.6.

उत्तम विद्वानों को सिद्ध कीजिये।[1] जो कारीगरों की प्रशंसा करते हैं, वे असंख्य धन को प्राप्त करते हैं इत्यादि।[2]

निष्कर्ष यह है कि उत्पादन विषयक महर्षि दयानन्द के विचार प्राचीन अर्थ शास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित है। प्राचीन अर्थ शास्त्रीय सिद्धान्तों में पशुपालन का समुचित महत्त्व प्रतिपादित कर एक प्रकार से उसे अर्थ व्यवस्था की धुरी ही मान लिया है।

वैश्य वर्ण के गुण, कर्म इत्यादि की व्याख्या में उन्होंने कृषि, पशुपालन, वन समपदा, पर्वतसम्पदा (खनिज) इत्यादि क्षेत्रों को गिनते हुए शिल्प कला–विज्ञान–उद्योग धन्धों आदि के महत्त्व का प्रतिपादन भी किया है। उस समय उन्होंने उन शिल्प उद्योग धन्धों को वेदों से सिद्ध किया था जब कि कोई उस समय इस विषयक सोच भी नहीं सकता था। महर्षि दयानन्द बड़े–बड़े उद्योग लगाने के अधिक पक्ष में नहीं थे अपितु कुटीर उद्योगों के अधिक–पक्ष में थे। उनका शैक्षणिक शिक्षा पाठ्यक्रम के साथ–साथ व्यावसायिक शिक्षा पाठ्यक्रम इस विषयक ठोस प्रमाण प्रस्तुत करता है।

महर्षि के शिक्षा पाठ्यक्रम को देखकर तो एक बार विस्मित ही होना पड़ता है कि वह छात्र को केवल वेद का पण्डित ही नहीं बनाता अपितु भौतिक क्षेत्र की सभी विद्याओं का भी व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कराता है।

उनके उतपादन विषयक सम्पूर्ण विचारों का अध्ययन करते समय एक तथ्य यह भी भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित उत्पादन के क्षेत्रों पर राज्य का नियन्त्रण ही नहीं अपितु एक प्रकार से स्वाभित्व है। कोई भी उत्पादन राज्य के नियन्त्रण से मुक्त नहीं हैं।

---

1. वही– 1.31.8.
2. तत्सु नो विश्वे आर्यआसदा गृणन्ति कारवः।
   बृबुं सहस्रदातमं सूरिं सहस्रसातमम्।
   वही– 6.45.33.

उपसंहार

इस शोध–प्रबन्ध के लेखनोपरान्त निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब भाव और भावनायें सोई हुई थी, मानव पशुता के पहरे में मानस पर अंधियारा कर अपनी विजय के मद में गर्व से इठला रहा था, तब महर्षि दयानन्द ने समय को स्वर, स्वर को गीत, गीत को भाषा और भाषा को संबल प्रदान कर अंधकार को पदुच्युत किया और सदियों से सुषुप्त पड़ी राष्ट्र की चेतना को अव्यक्त से व्यक्त की ओर, सुषुप्ति से जागृति की ओर, जड़ता से प्रगति की ओर ले जाकर नवनिर्माण की आधारशिला रखी। महर्षि दयानन्द के बहुआयामी व्यक्तित्व में एक साथ ही अप्रतिम धर्माचार्य, निर्भीक समाज सुधारक, राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक तथा सर्वविध शोषण के विरोध में आवाज़ उठाने वाले एक तेजस्वी के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। इस शोध–पबन्ध के प्रथम अध्याय में दयानन्द का आविर्भाव एवं जीवन चरित, वाङ्मय–परिचयात्मक सर्वेक्षण, आर्यावर्त्तीय राष्ट्र तथा दयानन्द कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन इन विषयों पर प्रकाश डालते हुये कहा गया है कि महर्षि दयानन्द जिस समय गुरु से विदा लेकर कार्यक्षेत्र में निकले, उस समय चारों ओर समाज की अति शोचनीय स्थिति थी। चूंकि इन्होंने स्पष्ट रूप से राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण नहीं किया था, फिर भी ये एक आदर्श गुरुभक्त शिष्य के रूप में एक सच्चे स्वदेश भक्त सिद्ध हुए। अपनी स्पष्ट चिन्तनशीलता और कर्त्तव्यों के प्रति सत्यनिष्ठा के कारण दयानन्द सरस्वती को युग प्रवर्तक के साथ–साथ युग परिवर्तक भी कहा जाता है। इन्होंने अपने जीवन–काल में जहाँ सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और वेदभाष्य जैसे विशालकाय ग्रन्थों की रचना की वहीं उन्होंने समय–समय पर अनेक लघुकाय ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने विचारों को जन–जन तक पहुँचाने का प्रयास किया।

महर्षि दयानन्द ही भारतीय धर्माचार्यों में प्रथम पुरुष थे जिन्होंने धर्म, अध्यात्म और दर्शन जैसे महत्त्वपूर्ण पारलौकिक विषयों की चर्चा करते हुए भी राष्ट्रीय गौरव और देशभिमान का सर्वत्र ओजस्विनी वाणी एवं स्फूर्त उच्छ्वासपूर्ण शैली में उल्लेख किया। आर्यावत्तर्तीय मत–मतान्तरों के खण्डन–मण्डन के विषय को आरम्भ करने से पूर्व वे स्वदेश–गौरव का आख्यान करने में प्रवृत्त हुए। पुरःकाल में भारत भूमि को अन्य देशवासी धन–धान्य और वैभवपूर्ण "स्वर्ण भूमि" के नाम से जानते थे। उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि आर्यावर्त्त के तुल्य समस्त भू–मण्डल में कोई अन्य देश नहीं है।

आर्यों की पुराकालीन सदृढ़ राज्य–व्यवस्था, सम्पन्न आर्थिक स्थिति तथा समृद्ध संस्कृति के होने पर भी पाँच हज़ार वर्ष पूर्ण महाभारत काल से ही उनका सार्वत्रिक अधः पतन होने लगा। आर्य जाति के पतनावस्था का कारण महर्षि ने आलस्य, पुरुषार्थ हीनता, ईर्ष्या, द्वेष, विषयासक्ति, प्रमाद, विद्यानाश, दुर्गुण और दुर्व्यसनों की वृद्धि, मद्या–मांस सेवन, बाल–विवाह, स्वेच्छाचारिता आदि को भारत की अधोगति के लिये उत्तरदायी ठहराया है।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदियों में भारत की धार्मिक और राष्ट्रवादी चेतना अत्यधिक सुषुप्त हो गई थी। विगत शताब्दी में यूरोप एवं अन्य पश्चिमी देशों में अनेक राजनैतिक एवं सामाजिक कारणों से जिस जागृति का सूत्रपात हुआ था, उसका प्रभाव भारत के जन–जीवन पर भी पड़ा। पश्चिमी शिक्षा के प्रचार में भारतवासियों को प्रगतिशील मूल्यों से परिचित करवाया एवं साथ ही इस युग में भारत भूमि पर जो धार्मिक, सांस्कृतिक आन्दोलन उत्पन्न हुए, उनके कारण देशवासियों ने भारत के इस अतीत का भी मूल्यांकन किया जिससे वे कुछ ग्रहणशील एवं उपयोगी बातों को भी स्वीकार कर सकते थे। अतः पुनर्जागरण का यह काल पुरातन और नवीन, अतीत और वर्तमान, विश्वास और बुद्धिवाद, धर्म और विज्ञान के समन्वय का काल कहा जा सकता है। ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज जैसे शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन इसी युग में स्थापित हुए जिन्होंने देश के सर्वांगीण विकास में अपना योगदान दिया।

संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्र शब्द की निष्पत्ति दीप्यर्थक 'राज्' धातु से हुई है जिसमें औणादिक 'ष्ट्रन्' प्रत्यय जोड़ा गया है। 'राजत् इति' रज्+सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् इस उणादि सूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय करके राष्ट्र शब्द की सिद्धि होती है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ एक विशिष्ट भाषा के द्वारा किसी भी प्रदेश के लोग जहाँ विचार–विनिमय करते हों, वही स्थान विशेष 'राष्ट्र' है। वेदों में व्यवहृत राष्ट्र शब्द आज अंग्रेजी शब्द 'नेशन' के पर्याय रूप में प्रयुक्त किया जाता है। राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रानुराग, राष्ट्रभक्ति, देशप्रेम, देशानुराग देशभक्ति आदि राष्ट्रीय भावना के प्रतीक हैं। इन सबके अभाव में राष्ट्र पराधीनता के पाश में जकड़ जाता है और वहाँ के लोगों का जीवन पशु के समान हो जाता है।

भौगोलिक इकाई के आधार पर राष्ट्र के रूप में विशाल भारतवर्ष के समाज के समारम्भ का स्वरूप वैदिक साहित्य में मिलता है। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र आदि संस्कृत वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनमें राष्ट्र की अवधारणा के दर्शन हुए हैं तथा इनका विशद् वर्णन शोध–प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है। वेदों में जन्म भूमि को माता कहा गया है तथा साथ ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओतप्रोत वेदकालीन आर्यों ने जहाँ एक ओर सर्वत्र ईश्वर की सत्ता को मानकर प्राणिमात्र के प्रति ममत्व एवं एकत्व की भावना को सबल बनाने का प्रयास किया है वहीं दूसरी ओर शासन एवं व्यवस्था की दृष्टि से लौकिक जीवन को निर्बाध बनाने तथा आवश्यक सुरक्षा आदि के लिए देश को एक शासनसूत्र में बाँधकर सुसंगठित राष्ट्र के रूप में भी बड़े ही महत्त्व के साथ प्रतिष्ठित किया है। प्राचीन भारत के लगभग सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य का सप्तांग रूप स्वीकार किया है। उन्होंने इन अंगों की उत्तमता पर ही राष्ट्र की उत्तमता मानी है, इन अंगों में से यदि एक भी अंग विकारग्रस्त हो जाए तो सम्पूर्ण राष्ट्र का स्वरूप भी विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाएगा।

इस शोध–प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में दयानन्द वाङ्मय में राष्ट्रीय चेतना के सूत्रों को बताने का प्रयास किया गया है कि मध्यकालीन धर्म, समाज एवं राजनीतिक अवस्थाओं के जटिल संकुल वातावरण में जन्म लेकर भी दयानन्द इन्हीं क्षेत्रों में सर्वाधिक क्रान्तिकारी तथा प्रबुद्ध चिन्तन को उत्पन्न करने में सफल हुए। दयानन्द ने वेदों में निहित उच्चतर, धार्मिक व आध्यात्मिक मूल्यों और समाज एवं राष्ट्र हित की दृष्टि से विहित विधानों तथा वैज्ञानिक तत्त्वों की विवेचना से युक्त रहस्यों का स्वयं भी दर्शन किया तथा इस दिव्य ज्ञान के महनीय एवं उदात्त प्रतिपाद्य से मानव जाति को भी परिचित कराया। उन्होंने समाज और राष्ट्र के बिगड़े हुए रूप को सुधारने के लिए वर्णाश्रमधर्म के महत्त्व को समझाते हुए मानव–मानव में ऊँच–नीच के भेद को दूर करके छूत–अछूत को समाप्त करने का प्रयास किया। उन्होंने स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देते हए परदे की प्रथा, सती–प्रथा, दहेज–प्रथा एवं बाल–विवाह आदि तत्कालीन कुप्रथाओं पर कुठाराघात किया तथा सामाजिक बुराईयों को नष्ट करने के लिए सतत प्रयत्न किये। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित मूर्तिपूजा, बहुदेवपूजा, धार्मिक अन्धविश्वासों और विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में प्रचलित भेदभावों को दूर कर शुद्ध वैदिक धर्म की स्थापना करने का प्रयास किया। राजनीति और राष्ट्र के स्तर पर महर्षि दयानन्द ने स्वराज्य को सुराज्य से बेहतर बताकर भारत की राष्ट्रीय चिन्तनधारा को एक नई दिशा दी, उनका चिन्तन व्यापक था। एक ओर वे धार्मिक अन्धविश्वासों से जूझ रहे थे, तो दूसरी ओर वेद के भर्म को वे जनसामान्य के समक्ष प्रकट कर रहे थे। वे धार्मिक एवं सामाजिक विषमताओं में और राजनैतिक पराधीनता के विरोध में पूरे स्वाभिमान के साथ खड़े थे।

चतुर्थ अध्याय में महर्षि दयानन्द ने राजा और उसके कार्यक्षेत्र पर विस्तृत चर्चा की है। राजा सम्पूर्ण राज्यव्यवस्था का प्रतिनिधि होता है। राजा को राज्यव्यवस्था के उसी स्वरूप को अपनाना चाहिए जो कि व्यवस्थित हो। व्यवस्थित राज्य के संचालन में व्यवस्थित समाज का होना आवश्यक है जिसमें ब्राह्मण वर्ग उस (राज्य) का मुख, क्षत्रिय

वर्ग उसके (राज्य के) हाथ, वैश्य वर्ग उसका (राज्य का) उदर और शूद्र वर्ग उसके (राज्य के) पैर के सदृश हैं। महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि राज्य के संचालन में राजा निरंकुश अर्थात् स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए। यदि वह (राजा) अपनी मनमानी करता है तब उसे पदच्युत करने का भी प्रावधान है। राज्य में राजा को परामर्श देने के लिए महर्षि दयानन्द ने विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा और राजार्यसभा इन त्रिविध सभाओं की अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है कि इन तीनों सीभाओं से राजा प्रजा को विद्यास्वातन्त्र्य, धर्माचरण और धन आदि भौतिक सुखसम्पदाओं से अलंकृत करे। यही राजा का धर्म है। राजा राज्य के संचालन में दूत एवं योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति करे, जो कि पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, स्थिरचित्त एवं राज्योपयोगी पदार्थों के संग्रह करने में दक्ष हों। राज्य के मुख्य अधिकारियों में राजा, मुख्य सेनापति, कुशल एवं मुख्य राज्याधिकारी और मुख्य न्यायाधीश हों।

राजा की नियुक्ति के विषय में महर्षि जी की मान्यता है कि राजा का चुनाव राजपुरुष और प्रजापुरुष दोनों ही सुविचार करके करें ताकि कोई कीर्तिमान, चतुर, शूरवीर, सत्कारणीय, न्यायकारी, सत्यवादी और विद्यायुक्त व्यक्ति ही इस पद को सुशोभित कर सके। साथ ही यह कहना भी उचित है कि राजा अपने राष्ट्र में उत्पन्न व्यक्ति हो,परन्तु विशेष परिस्थिति में दूसरी राष्ट्रियता का व्यक्ति भी राजा चुना जा सकता है। राजा पिता के समान प्रजा का पालन और उसकी रक्षा करे। प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर व डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा इत्यादि राजा के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य कहे गए हैं। राजा अपने अङ्गों के समान राज्य का पालन करते हुए उत्तम कर्म करे। राज की उत्तमता उसकी (राजा की) पीठ है, राज्यसेना उसका (राजा का) हस्तमूल है, कोष उसके (राजा के) उदर के समान है, प्रजा को सुखी करने का प्रयत्न उसका (राजा का) कण्ठ और नाभि का अधोभाग स्थान है, व्यापार अरत्नी है, गणितविद्या उसके (राजा के) ऊरू अङ्ग के समान है, प्रजा और राजसभा का मेल उसके (राजा के) जानु के समान

कहा गया है। राजा की अर्थनीति में अर्थसंग्रह करप्रणाली द्वारा अर्थ की वृद्धि एवं व्यय पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि बगुले की भाँति ध्यानावस्थित होकर राजा अर्थसंग्रह का विचार करे। राजा अलब्ध धन की प्राप्ति की इच्छा, प्राप्त धन की प्रयत्न से रक्षा करे, रक्षित धन को बढ़ाये और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगाए। इस सन्दर्भ में महर्षि ने यह भी कहा है कि राजा अपना व अपने कुटुम्ब का नित्य व नैमित्तिक व्यय भी नियमपूर्वक करे। राजा के मुख्य दो अङ्ग कहे गये हैं– अच्छे कार्य करने वालों को पुरस्कार और बुरे कार्य करने वाले को दण्ड देना। यही राजा की दण्डनीति है। महर्षि कहते हैं कि जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराध में राजा को सहस्र पैसा दण्ड हो अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए। राजा की सैन्यनीति पर प्रकाश डालते हुए महर्षि दयानन्द ने कहा है कि राजा सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिलकर, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायत् कर–करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि का स्थान, शस्त्र–अस्त्रों का कोष, वैद्यालय तथा धन के कोषों को देखकर, इन सब पर दृष्टि नित्यप्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाले। राजा की सेना के पुरुष दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख–दुःख के सहन करने वाले और धन के लिए अत्यन्त पुरुषार्थी हों। अतः राजा अपनी सेना में उपर्युक्त शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों को रखें। राजा अपनी सेना को युद्धविद्या सिखाये। राजा को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है कि– (आसन) स्थिरता, (यान) शत्रु से लड़ने के लिए जाना, (सन्धि) उनसे मेल कर लेना, (विग्रह) दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, (द्वैध) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, (संश्रय) निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये छः प्रकार के कर्म यथायोग्य कार्य को विचार कर उसमें युक्त करना चाहिए। राजा की युद्धनीति पर प्रकाश डालते हुए दयानन्द लिखते हैं कि युद्ध के समय राजा शस्त्र–अस्त्र, यान, वाहन, खानपानादि अन्य वस्तुएँ लेकर सब सेना के साथ पूर्ण बलयुक्त होकर तीन प्रकार के मार्गों अर्थात् स्थल (भूमि), जल (समुद्र व नदियों) तथा वायु (आकाश) से शत्रु के नगर के समीप जाये।

पंचम अध्याय में शिक्षा के महत्त्व का स्वरूप प्रस्तुत करते हुये महर्षि दयानन्द कहते हैं कि केवल अक्षर ज्ञान ही शिक्षा नहीं है, अपितु जिसके द्वारा विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियतादि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्या, असभ्यता, अधर्मात्मा, अजितेन्द्रियादि दोषों से मुक्ति मिल सके वह 'शिक्षा' कहलाती है।

महर्षि ने अनिवार्य शिक्षा के लिए राजनियम के साथ–साथ जाति नियम को भी आवश्यक माना है। इनकी दृष्टि में 'शिक्षा' मानव मात्र के लिए है और सभी के सर्वांगीण विकास से ही सम्पूर्ण समाज एवं विश्व का कल्याण हो सकता है। किसी को भी विद्या से वंचित रखना सर्वथा अनुचित है। महर्षि की दृष्टि में जन्म से सब कोई शूद्र होते हैं। शिक्षा और संस्कार द्वारा ही कोई व्यक्ति द्विज बनता है। उनकी दृष्टि में सब स्त्रियों और शूद्रों (जिन्हें आजकल हरिजन कहा जाता है और जो अछूत माने जाते हैं) को भी शिक्षा की ठीक वही सुविधाएं प्रदान की जानी वाहिएं जो ब्राह्मणों व सम्भ्रान्त वर्ग के बालक–बालिकाओं को प्राप्त हों। वे शिक्षा योजना द्वारा स्त्रियों का सर्वांगीण विकास चाहते थे। स्त्रियों को साक्षर बनाने के साथ–साथ वेद–वेदांग का अध्ययन–अध्यापन और गृहोपयोगी कलाओं के सिखाने का उन्होंने प्रबल समर्थन किया। परन्तु सच्चरित्र निर्माण के कारण स्वामी जी सहशिक्षा के विरोधी थे। उनके अनुसार लड़के और लड़कियों के शिक्षणालय पृथक् व भौगोलिक रूप से उचित दूरी पर होने चाहिएं ताकि जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों के अलग रहें। वे शिक्षा का उद्देश्य गुण–दोष, सत्–असत्, हानि–लाभ, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का उचित विवेक, त्रिविध तापों से मुक्ति तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति भी स्वीकार करते हैं। महर्षि दयानन्द के शिक्षा–विषयक आदर्शों में गुरु–शिष्य का सम्बन्ध पिता–पुत्रवत् माना गया है। तथापि शिष्य हित की दृष्टि से ताड़ना को भी आवश्यक माना है, इसी सन्दर्भ में वे सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं– 'जो माता–पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों को ताड़न करते हैं वे मानों अपने सन्तान

और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं'। वे बालकों को कठोर दण्ड दिये जाने का समर्थन तो नहीं करते किन्तु दण्ड की सर्वथा अपेक्षा को भी अस्वीकार करते हैं।

शिक्षक को महान् कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक करते हुए महर्षि लिखते हैं– 'सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों को धारण कराना मुख्य कर्म है।' इसके साथ–साथ मानव के सर्वांगीण विकास की अनुपम ज्योति जागृत करने के लिए वे माता–पिता, आचार्य, समाज और राजा (शासन) के परस्पर प्रेममय सम्बन्ध पर बल देते हैं। आधुनिक युग में शिक्षक के लिए अपने विषय का ज्ञाता तथा अध्यापन कार्य में कुशल होना पर्याप्त माना जाता है। महर्षि जी की दृष्टि में शिक्षक वर्ग का विद्वान् होने के साथ–साथ तपस्वी, धार्मिक तथा सदाचारी होना अन्तयन्त आवश्यक है। शिक्षक की भांति शिक्षार्थियों के लिए भी उनके मत में जिज्ञासा धार्मिकता, पुरुषार्थ, बुद्धिमत्ता, नम्रता, जितेन्द्रियता आदि गुण वाछंनीय है क्योंकि शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के आधार पर ही शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण हो सकता है।

षष्ठ अध्याय में महर्षि दयानन्द ने अर्थ, उसका महत्त्व एवं उत्पादन विषयक चर्चा की है, उनकी दृष्टि में भी अर्थ, धन, सम्पत्ति, स्वर्णादिरत्न, राज्यधनादि एवं जीवित रहने के भौतिक साधनों के अर्थ में ही आया है। यद्यपि अर्थ, मानव जीवन की मूल भौतिक आवश्यकता है तथापि उन्होंने धर्म को अर्थ से प्रथम स्थिति में रखा है। क्योंकि शास्त्रों में जो तीन प्रकार का अर्थ माना गया है और जिनका विवेचन इस शोध प्रबन्ध में भी हुआ है उनको पहचानने की शक्ति धर्म ही देता है धर्म के द्वारा प्राप्त किया गया अर्थ लोक–परलोक दोनों की सिद्धि प्राप्त कराता है।

महर्षि दयानन्द के उत्पादन विषय विचार प्राचीन अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं। छठे अध्याय में महर्षि ने उत्पादन के पांच साधन गिनाये हैं– यथा– भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध और साहस। ऋषि के ग्रन्थों में इनकी पर्याप्त चर्चा हुई है। शोध–प्रबन्ध में उत्पादन के साधनों पर जो विचार प्रदर्शित हुए हैं, उनसे लगता है कि

महर्षि ने अपने वेदभाष्यादि ग्रन्थों में इनकी व्याख्याएं अर्थशास्त्रीय उत्पादन को ध्यान में रखकर ही की हैं। उनके ग्रन्थों से उत्पादन के 5 क्षेत्र निर्धारित होते हैं– (1) कृषि, (2) पशुपालन, (3) वन सम्पदा, (4) पर्वत सम्पदा अथवा खनिज, (5) शिल्पकला–विज्ञान, उद्योग, व्यवसाय। वर्तमान में भी ये ही पाँचों क्षेत्र उत्पादन के मुख्य क्षेत्र गिने जाते हैं।

उन्होंने खेती पर अपने वेदभाष्य में प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया है। ये यान्त्रिक कृर्षि के भी विरोधी नहीं थे। परन्तु उन्होंने पशु–आधारित खेती करने को ही प्राथमिकता दी और पशुओं की रक्षा और संवर्धन पर विस्तार से विचार ही नहीं किया। अपितु व्यवहारिक रूप में अनेक प्रयास भी किये। गोकरुणानिधि पुस्तक उनके इन्हीं विचारों का व्यावहारिक रूप है। उन्होंने इस बात पर भी दिया था कि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा की स्थापना कर पशुरक्षा विषयक व्यावहारिक रूप में कुछ प्रयास निरन्तर चलाते रहे।

वनसम्पदा और पर्वत सम्पदा आदि का दोहन करते समय उनका दृष्टिकोण यह रहा है कि दोहन इस प्रकार से किया जाए कि प्रकृति असन्तुलित अथवा पर्यावरण दूषित नहीं हो। इस विषय में गोकृष्यादिरक्षिणी सभा का दूसरा नियम अवलोकनीय है– जो–जो पदार्थ सृष्टिक्रमानुसार जिस–जिस प्रकार से अधिक उपकार में आवे उस उस से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना, इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

उनके वेदभाषादि में शिल्पकला– विज्ञान, उद्योग, व्यवसाय का भी विस्तार से विवेचन मिलता है। शोध–प्रबन्ध में भी इस विषयक पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया गया है।

आज से 108 वर्ष पूर्व जर्मन के डॉ0 वाईज से इसी विषय को लेकर उन्होंने पत्र व्यवहार किया था और यह प्रयास किया था कि भारतीय युवक जर्मन जाकर शिल्प–कला–कौशल की शिक्षा लें और वापिस भारत में आकर व्यावसायिक शिक्षा के

विद्यालय स्थापित कर उन शिल्प–कलाओं का अन्यों को प्रशिक्षिण देकर, देश में उनका विस्तार करें। उन्होंने अपने ग्रन्थों में इस बात पर भी बल दिया था कि देश में शैक्षिणिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के साथ व्यावसायिक शिक्षा का भी पाठ्क्रम निर्धारित होना चाहिए।

महर्षि दयानन्द की उत्पादन विषयकमान्यता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे आज की भांति सबको उत्पादन करने का अधिकार नहीं देते अपितु वे वैश्य वर्णस्थ व्यक्तियों को ही उत्पादन करने का अधिकारी मानते हैं। साथ ही उत्पादन राज्य द्वारा नियोजित अर्थ–व्यवस्था के अन्तर्गत ही होना मानते हैं।

अतः हम कह सकते हैं देशवासियों को एकता के सूत्र में बांधने का आग्रह करते हुए महर्षि जी ने भारतीयों में स्वदेश, स्वभाषा, स्वधर्म, स्वसाहित्य एवं स्वसंस्कृति के प्रति निष्ठा के द्वारा राष्ट्रोत्थान के लिए समाज में जात–पात का विरोध, वर्ण भेद के जन्मगत होने का विरोध, पाखण्ड और अन्धविश्वासों का विरोध, बाल–विवाह, सती–प्रथा का विरोध कर सुषुप्त राष्ट्र को जागृत किया। अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती को अपनी स्पष्ट चिन्तनशीलता और कर्त्तव्यों के प्रति सत्यनिष्ठा के कारण युग प्रवर्तक के साथ–साथ युब परिवर्तक भी कहा जाता रहेगा।

———

सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूची

अथर्ववेद	पं0 श्रीराम शर्मा, संस्कृति संस्थान बरेली (उ.प्र.), 1965.
अथर्ववेद (आर्यभाषाभाष्य)	पं0 क्षेमकरणदास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, 2030. वि.
अनुभ्रमोच्छेदन	महर्षि दयानन्द सरस्वती, गोबिन्दराम हीराचन्द, देहली, 2001 वि.
आर्यसमाज का इतिहास (प्रथम से तृतीय तक)	डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली, 1982.
आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी	डॉ0 भवानीलाल भारतीय, परोपकारिणी सभा, अजमेर, 2027 वि.
ऋग्वेदभाषाभाष्य (चतुर्थभाग)	ओमप्रकाश त्यागी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, 2031 वि.
ऋग्वेदभाषाभाष्य (पंचम भाग)	ओमप्रकाश त्यागी, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, 2031 वि.
ऋग्वेदभाष्यम्	दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1977.
ऋग्वेद संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी।
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	महर्षि दयानन्द, रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली, 1967.
ऋषि दयानन्द और आर्य–समाज की संस्कृत साहित्य को देन	डॉ0 भवानीलाल भारतीय, रामलाल, कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, 2025 वि.
ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन (द्वितीय भाग)	पं0 भगवद्दत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत–हरियाणा), 2038 वि.

ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन	डॉ0 भवानीलाल भारतीय एवं युधिष्ठिर मीमांसक, श्री मती सावित्री देवी, वागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता 1988.
ऐतरेयब्राह्मणम्	सं. श्री सत्यव्रत शर्मा, वेदार्थ प्रकाश, भाष्य कलकत्ता, राजन्चत्याम्, 1957.
कौटिलीय अर्थशास्त्रम्	वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा वाराणसी।
तैत्तिरीय आरण्यक	सायणभाष्य, आनन्दाश्रम, पूना, 1926.
तैत्तिरीय उपनिषद्	शंकरभाष्य सहित, पंचम संस्करण, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1929.
गोकरुणानिधि	स्वामी दयानन्द, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 2007 वि.
दयानन्द चरित्रम्	देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय, अजमेर,
दयानन्द लहरी	पं0 अखिलानन्द शर्मा,
दयानन्द चरितामृतम्	पं0देवदत्त शर्मा
दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्यव्यवस्था	डॉ0 प्रशान्तकुमार वेदालंकार, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, 1975.
दयानन्द–यजुर्वेदभाष्य–भास्कर (चार भाग)	पं0 सुदर्शनदेव, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 2029 वि.
दयानन्दीय–लघुग्रन्थ–संग्रहः	स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली चौदह पुस्तकों का संग्रह, 1970.
नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती	डॉ0 भवानीलाल भारतीय, वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभा, अजमेर, 2040 वि.
पंचमहायज्ञ विधि	स्वामी दयानन्द, रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत, 1975 ई.

ब्रज के धर्म–सम्प्रदायों का इतिहास (द्वि.भा.)	प्रभुदयाल मीत्तल, साहित्य संस्थान, मथुरा, 1968.
ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास	डॉ0 आर. आर. सेठी, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली,1957.
भारतीय अर्थशास्त्र	डी.एस. कुशवाह, राजकमल प्रकाशन, इलाहाबाद।
भारत का इतिहास	डॉ0 अविनाश चन्द्र अरोड़ा, प्रदीप जैन पब्लिकेशन्ज, जालन्धर, 1982–83.
भारत में अंग्रेजीराज	सुन्दरलाल, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन और नया संविधान	सत्यकेतु विद्यालंकार, सरस्वती–सदन, मसूरी, 1958.
भारतवर्षीय मतमतान्तर समीक्षा	डॉ0 भवानीलाल भारतीय, आर्य प्रकाशन, दिल्ली,1994.
भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन	डॉ0 विजेन्द्रपाल सिंह, साहिबाबाद, 1977.
भारत मे शिक्षा–अशिक्षा	प्रशान्त वेदालंकार, अनिल प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, 1955.
मनुस्मृति	जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे, भारतीय विद्या भवनम् मुम्बई, 1975.
मनुस्मृति	डॉ0 रामचन्द्र वर्मा, विद्या विहार–प्रैस, नई दिल्ली, 1997.
मनुस्मृति (अनुशीलन समीक्षा)	सुरेन्द्र कुमार आर्य, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1981.
महाभारत (व्यास)	गीता प्रैस, गोरखपुर

महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कला कौशल सम्बन्धी विचार	डॉ0 रामनाथ वेदालंकार, प्रकाशन ब्यूरो पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ,1982.
महर्षि दयानन्द की आत्मकथा	डॉ0 भवानीलाल भारतीय, वैदिक यंत्रालय, अजमेर, 2040 वि.
महर्षि दयानन्द प्रणीत राजधर्म	पं0 लक्ष्मीदत्त दीक्षित, पं0 ज्ञानचन्द आर्य, सार्वदेशिक प्रैस, दिल्ली, 1950.
महर्षि दयाननद के वेद–भाष्य की विशेषताएं	पं0 धर्मदेव, दयानन्द सस्थान, नई दिल्ली, सं. वि. 2032.
यजुर्वेद संहिता	सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली–1939.
याज्ञवल्क्यस्मृति	नारायणशास्त्रिणा और जगन्नाथ शास्त्रिणा, विद्याविलास प्रैस, बनारस, 1983.
याज्ञवल्क्यस्मृति	डॉ0 उमेशचन्द्र पाण्डेय, विद्याविलास, प्रैस, वाराणसी, 1024 वि.
युगनिर्माता	स्वामी दयानन्द श्रीकान्त आचार्य नाग प्रकाशक 11ए यू.ए. जवाहर नगर दिल्ली।
वाल्मीकि रामायण	बम्बई संस्करण, निर्णय सागर प्रेस।
बाल्मीकि रामायण (मूल)	गीता प्रैस, गोरखपुर, संवत् 2020.
वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (तीन भाग)	वेदमार्तण्ड आचार्य, प्रियव्रत वेदवाचस्पति, मीनाक्षी प्रकाशन मेरठ, नई दिल्ली, 1983.
वेदों में मानववाद	दिलीप वेदालंकार, अमर भारती अन्तर्राष्ट्रीय, गुजरात, 1982.
वैदिक प्रजातन्त्र	रवीन्द्र नाथ, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1973.

वैदिक साहित्य का इतिहास	साहित्य भण्डार मेरठ
व्यवहारभानु	स्वामी दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 2028 वि.
शतपथब्राह्मणम्	पं0 गंगाप्रसाद उपाध्याय और डॉ0 सत्यप्रकाश, प्राचीन वैज्ञानिकाध्ययन अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली, 1969.
शिक्षा शास्त्र	कालकृष्णन दिवान. हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ., 1984.
शिक्षा–सिद्धान्त	एन.आर. स्वरूप सक्सेना, आर. लाल बुक डिपो मेरठ, 1992–93.
श्रीमद्भगवद्गीता	पं0 श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, गीतालंकार स्वाध्याय मण्डल, औंध, 1845.
सत्यार्थप्रकाश	दयानन्द सरस्वती, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 1972.
सत्यार्थप्रकाश	महर्षि दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 1971.
संस्कारविधि	दयानन्द सरस्वती, रामलाल, कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, 1974.
संस्कृत साहित्य कोष	डॉ0 राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2030 वि.
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश	स्वामी दयानन्द, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 2026 वि.
स्वामी दयानन्द और सत्यार्थप्रकाश	एम.एम.राय, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1968.

P. U. LIBRARY CHANDIGARH
U552 45